

प्राकृत विद्या

वर्ष 13, अंक 3,

अक्तूबर-दिसम्बर 2001 ई०



जैनशासन का मांगलिक-प्रतीक 'पंचरंगी ध्वज'

आवरण पृष्ठ के बारे में

आवरण-पृष्ठ पर मुद्रित चित्र जैन-परम्परा के अष्टमंगल-द्रव्यों में परिगणित पावन प्रतीक-चिह्न 'पंचवर्णी ध्वज' का है। समस्त जैनसमाज और परम्परा में यही ध्वज निर्विवाद रूप से मान्य है। यह एक पंच-परमेष्ठियों का सूचक मांगलिक प्रतीक है, जिसमें श्वेतवर्ण की पट्टिका 'अरिहंत परमेष्ठी' की, लालरंग की पट्टिका 'सिद्ध परमेष्ठी' की, पीले रंग की पट्टिका 'आचार्य परमेष्ठी' की, हरे रंग की पट्टिका 'उपाध्याय परमेष्ठी' की तथा गहरे नीले या काले रंग की पट्टिका 'साधु परमेष्ठी' की द्योतक होती है। इसके मध्य में निर्मित स्वस्तिक का चिह्न चतुर्गति संसार-परिभ्रमण से मुक्तिपूर्वक आत्मलाभ को सूचित करता है।

यह भी एक मांगलिक संयोग है कि वर्तमान चौबीसी के चौबीसों तीर्थंकरों के शरीरों का वर्ण भी इन्हीं पाँचों वर्णों में वर्गीकृत है। इस बारे में आचार्य कुन्दकुन्दप्रणीत 'मूलाचार' ग्रंथ की यह गाथा द्रष्टव्य है—

**“णमिदूण जिणवरिदि, तिहुवणवरणाण-दंसणपदीवे ।
कंचण-पियंगु-विदुदुम-घण-कुंदमुणाल-वण्णाणं ।।”**

—(आचार्य कुन्दकुन्द, मूलाचार 8-1)

चन्द्रप्रभ और पुष्पदन्त का शरीर वर्ण कुन्दपुष्प, चन्द्र, बर्फ, कपूर या हीरा मुक्ताहार की तरह 'श्वेतवर्णी'; सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ का शरीर-वर्ण मंजरी (मिहदी के पत्तों) की तरह अथवा बिना पके धान्य के पौधों की तरह 'हरितवर्णी', मुनिसुव्रत और नेमिनाथ का शरीरवर्ण नीलांजनगिरि अथवा मयूरकण्ठ की तरह 'नीलवर्णी', पद्मप्रभ और वासुपूज्य का शरीरवर्ण कमल अथवा टेसू के पुष्प की तरह 'लालवर्णी', और शेष 16 तीर्थंकरों का शरीरवर्ण तपाये सुवर्ण (सोने) की तरह पीतवर्ण वाले बताये हैं।

इसीप्रकार निर्ग्रन्थ जैन-श्रमणों के करकमलों में जीवदया-उपकरण के रूप प्रतिष्ठित रहनेवाली मयूरपिच्छी भी पंचवर्णी कही गयी है—“मयूरपिच्छं मृदु-पञ्चरंगम् ।”

—सम्पादक

जैन-शासन का ध्वज-गीत

आदि-वृषभ के पुत्र भरत का, भारत-देश महान् ॥ 1 ॥
वृषभदेव से महावीर तक, करें सुमंगल-गान ॥ 2 ॥
पाँच रंग पाँचों परमेष्ठी, युग को दें आशीष ॥ 3 ॥
विश्व-शांति के लिये झुकावें, पावन-ध्वज को शीश ॥ 4 ॥
'जिन' की ध्वनि 'जैन' की संस्कृति, जग-जन को वरदान ॥ 5 ॥
भरत का भारत देश महान् ।



॥ जयदु सुद-देवदा ॥

प्राकृत-विद्या
पागद-विज्ञा

PRAKRIT-VIDYA
Pagad-Vijña

शौरसेनी, प्राकृत एवं सांस्कृतिक मूल्यों की त्रैमासिकी शोध-पत्रिका
The quarterly Research Journal of Shaurseni, Prakrit & Cultural Values

वीरसंवत् 2528 अक्तूबर-दिसम्बर '2001 ई० वर्ष 13 अंक 3
Veersamvat 2528 October-December '2001 Year 13 Issue 3

आचार्य कुन्दकुन्द समाधि-संवत् 2013

मानद प्रधान सम्पादक

प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन

निदेशक, कुन्दकुन्द भारती जैन शोध संस्थान

Hon. Chief Editor

PROF. (DR.) RAJA RAM JAIN

Director, K.K.B. Jain Research Institute

मानद सम्पादक *Hon. Editor*

डॉ० सुदीप जैन

एम.ए. (प्राकृत), पी-एच.डी.

DR. SUDEEP JAIN

M.A. (Prakrit), Ph.D.

प्रकाशक

श्री सुरेश चन्द्र जैन

मंत्री

श्री कुन्दकुन्द भारती ट्रस्ट

Publisher

SURESH CHANDRA JAIN

Secretary

Shri Kundkund Bharti Trust

★ वार्षिक सदस्यता शुल्क - पचास रुपये (भारत) 6.0 \$ (डालर) भारत के बाहर
★ एक अंक - पन्द्रह रुपये (भारत) 1.5 \$ (डालर) भारत के बाहर

डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री
डॉ० उदयचन्द्र जैन

प्रो० (डॉ०) प्रेमसुमन जैन
प्रो० (डॉ०) शशिप्रभा जैन

प्रबन्ध सम्पादक
डॉ० वीरसागर जैन

श्री कुन्दकुन्द भारती (प्राकृत भवन)
18-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया,
नई दिल्ली-110067
फोन (011) 6564510
फैक्स (011) 6856286

Kundkund Bharti (Prakrit Bhawan)
18-B, Spl. Institutional Area
New Delhi-110067
Phone (91-11) 6564510
Fax (91-11) 6856286

कातंत्र-व्याकरण और दिल्ली नगर की समृद्धि का वर्णन

“कातंत्र इव पंजी-समिद्ध, णव-कामिणी-जोव्वणमिव सणिद्ध ।

सुर-रमणियणुव वरणेत्तवंतु, पैक्खणयरमिव बहु-वेसवंत ।।”

— (जैन महाकवि विबुध श्रीधर, पासणाहचरिउ, 1-3)

अर्थात् जिसप्रकार कातंत्र-व्याकरण अपनी पंजिकाओं (टीकाओं) से समृद्ध है, उसीप्रकार वह दिल्ली (दिल्ली) नगर भी पदमार्गों से समृद्ध है। जिसप्रकार नवीन तरुणी वधू का यौवन स्निग्ध होता है, उसीप्रकार वह दिल्ली नगरी भी बड़ी स्निग्ध मनोहर थी। वहाँ की युवतियाँ श्रेष्ठ रेशमी वस्त्र धारण करती हैं। वे ऐसी प्रतीत होती हैं मानों सुर-रमणियाँ ही हों अथवा प्रेक्षागृह की बहुवेशधारिणी नायिकायें ही हों।

Katantra Vyakaran and a profile (description) of prosperiy of Deilli city

Like KATANTRA Vyakaran (of the celebrated grammarian SHARVAVERMA, Jain seer of the pre-Panini era), rich with its prolific commentaries, the city of Dilli is prosperous with the abundance of its roadways. Dilli city captivates the mind with the impact of its extreme beauty very much like the alluring charm of the youthfulness of a newly-wed young bride. Young women there are clad in the superior brand silken clothing. They verily look like heavenly maidens oras if they are the multi-costumed heroines with a variety of apparel on the floor of an Auditorium. ***

कातंत्रव्याकरणम्

‘कातंत्रं हि व्याकरणं पाणिनीयेतरव्याकरणेषु प्राचीनतमम् । अस्य प्रणेतृविषयेऽपि विपश्चितां नैकमत्यम् । एवमेव कालविषये नामविषये च युधिष्ठिरो हि कातंत्रप्रवर्तनकालो विक्रमपूर्वं तृतीय-सहस्राब्दीति मन्यते ।’

— (लेखक : लोकमणिदाहलः, व्याकरणशास्त्रेतिहासः, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 260)

अनुक्रम

क्र.	शीर्षक	लेखक	पृष्ठ सं०
01.	मंगलाचरण : पुरु (वृषभ) देव-गीत	पं० आशाधर सूरि-विरचित	4
02.	सम्पादकीय : ध्वज से दिशाबोध	डॉ० सुदीप जैन	6
03.	पिच्छि और कमण्डलु	आचार्य विद्यानन्द मुनिराज	12
04.	भारतवर्ष का एक प्राचीन जैन-विश्वविद्यालय	डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन	22
05.	भगवान् महावीर	(स्व०) पं० बलभद्र जैन	30
06.	मनीषीप्रवर टोडरमल : प्रमुख शौरसेनी जैनागमों के प्रथम हिन्दी टीकाकार	प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन	39
07.	उत्तम संयम और महाव्रत	आचार्य विद्यानन्द मुनिराज	50
08.	देवताओं की चिता (कहानी)	आनन्द प्रकाश जैन	53
09.	प्राकृत-ग्रन्थों में जिनलिंगों का स्वरूप	डॉ० राजेन्द्र कुमार बंसल	58
10.	दार्शनिक-राजा की परम्परा के प्रवर्तक तीर्थंकर ऋषभदेव	डॉ० सूर्यकान्त बाली	64
11.	केरली-संस्कृति में जैन-योगदान	राजमल जैन	70
12.	श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वदपरिषद् के 19वें अधिवेशन में अहिंसा स्थल पर दिनांक 17.11.2001 को पं० प्रकाशचंद शास्त्री 'हितैषी' का अध्यक्षीय-भाषण		86
13.	आध्यात्मिक गीत (कविता)	डॉ० महेन्द्र सागर प्रचडिया	92
14.	'रयणचूडरायचरियं' में वर्णित नगर	डॉ० हुकम चन्द जैन	93
15.	पुस्तक-समीक्षा		97
16.	अभिमत		102
17.	समाचार-दर्शन		105
18.	इस अंक के लेखक-लेखिकायें		110

पुरु (वृषभ) देव-गीत

(यमन राग)

—पं० आशाधर सुरि-विरचित

जय मंगलं नित्यशुभमंगलम्, जयविमलगुणनिलय पुरुदेव ! ते ।।

जय मंगलं ।। 1 ।।

जिनवृषभ वन्दारुवृन्दवन्दितचरण ! मन्दारकुन्दसितकीर्तिधर ! ते ।

इन्दुकरघृणिकोटिजितविशदतनुकिरण ! मन्दरगिरीन्द्रनिभवरधीर ! ते ।।

जय मंगलं ।। 2 ।।

घोरतरसंसारवाराशिगततीर ! नीराजनाकाररागहर ! ते ।

मारवीरेशकरकोदण्डभंगकर-सार ! शिवसाम्राज्य-सुखसार ! ते ।।

जय मंगलं ।। 3 ।।

सुकिसलयततिविततकंकैलितरुनिकट-सुखविनुतसुरकुसुमवर्षयुत ! ते ।

अकलंकजनहृदयतिमिरौघनुदनिनद ! सकलशशिसितचमरनिकरघुत ! ते ।।

जय मंगलं ।। 4 ।।

चण्डकेसरि-विधृत-पुण्डरीकासनक-मण्डित-सुभामण्डलभात ! ते ।

खंडिताशनिघोषदिविजदुन्दुभिनाद ! पुण्डरीकत्रितयजितचण्ड ! ते ।।

जय मंगलं ।। 5 ।।

निरुपम-निरातंक-निःशेष-निर्माय, निरशन-निःशोष-निर्मोह ! ते ।

परमसुख-परदेव-परमेश-परवीर्य, निरघ-निर्मलरूप-वृषभेश ! ते ।।

जय मंगलं ।। 6 ।।

अर्थ:— हे विमल-गुणों के निवासस्थान भगवन् पुरुदेव ! आपकी जय हो । आप जय और मंगलस्वरूप हैं, नित्य-शुभ मंगलात्मा हैं ।

अर्थ:— हे जिनश्रेष्ठ ! वन्दना करनेवाले देव-मनुजवृन्द से सुपूजितचरण ! मन्दार और कुन्द-पुष्पावली के सदृश निरवद्य शुभ्र-कीर्ति के धारक ! अपने शरीर की कान्ति से कोटि-कोटि चन्द्रकिरणों को निर्जित करनेवाले ! गिरिराज मन्दराचल के तुल्य धैर्यशालिन ! आप जय-मंगल हैं, नित्य शुभ-मंगलात्मा हैं ।

अर्थ :— हे घोरातिघोर-संसार-सागर के पार तीरगामिन् ! आरार्तिक्यदीप से अर्चा करनेवालों के नीराजनाकार'-रागहारिन् ! विश्वजयी कामदेव के कोदण्ड (पुष्पचाप) का भंग करनेवाले ! सारभूत-शिवसाम्राज्य के सुख-भोक्ता ! आपकी जय हो, नित्य मंगल हो ।

अर्थ :— सुन्दर नवीन-पल्लव-समूह से आकीर्ण अशोक-वृक्ष के समीप सुखपूर्वक नमन करनेवाले, देववृन्द द्वारा की गई सुमनवृष्टि से आसेवित, हे निष्कलंक भव्यात्माओं के हृदय-संनिविष्ट तिमिर-समूह का अपनोदन करनेवाले ! सम्पूर्ण कलाओं से शोभायमान शीतरश्मि सदृशचमरों से वीजित ! परमात्मन् ! आपकी जय हो, नित्यशुभ मंगल हो ।

अर्थ :— हे व्यात्तमुख प्रचण्डसिंह द्वारा धारित कमलासन पर विराजमान ! मण्डलाकृति भामण्डल से शोभायमान ! अपने दिव्यध्वनि से वज्रघोष का दर्प खण्डित करनेवाले ! पुण्डरीक त्रितय-शोभित ! चण्डजयिन् ! आपकी जय हो, नित्य शुभमंगल हो ।

अर्थ :— हे उपमारहित ! भयविहीन ! मुक्तिप्राप्त ! मायावर्जित ! क्षुधा-शोक-मोह-विधुर ! परमसुखसम्पन्न ! परमदेव ! परमेश्वर ! परमवीर्य ! निष्पाप ! निर्मलस्वरूप ! हे श्री ऋषभ जिनेश्वर ! आपकी जय हो, नित्य शुभमंगल हो । ❖❖

शब्द प्रकृति और व्याकरण

'शब्दप्रकृतिरपभ्रंश, इति संग्रहकारः ।'

—(वाक्यपदीय 1/148, हरिवृत्ति, पृ० 134)

अर्थ :— अपभ्रंश शब्दप्रकृतिवाला है, अर्थात् साधारण जनता की भाषा से ही अपभ्रंश भाषा का निर्माण हुआ है ।

—व्याकरण केवल उन्हीं भाषाओं का होता है जिनका रूप कुछ स्थिर हो चुका है तथा जो शिष्टसंमत है । किन्तु भाषाविज्ञान संसार की समस्त भाषाओं एवं बोलियों से यहाँ तक कि बहुत शीघ्र परिवर्तित होने वाली जंगली या असभ्य-जातियों की बोलियों से भी संबंध रखता है, बल्कि इन बोलियों एवं जनता में प्रचलित-भाषाओं से ही भाषा के जीवन्त-स्वरूप का पता, साहित्यिक-भाषा की अपेक्षा, कहीं अधिक चलता है । उदाहरणार्थ—हिन्दी प्रदेश में 'धम्भ' और 'खम्भ' (या खंभा) दोनों शब्द चलते हैं । पहले विद्वान् समझते थे कि दोनों शब्दों का विकास 'संस्कृत' के स्तम्भ शब्द से हुआ है, किन्तु 'खंभ' शब्द का विकास 'स्तम्भ' से होना बड़ा असंगत लगता था । अस्तु, खोज करने से पता चला कि वैदिक भाषा में एक शब्द 'स्कम्भ' (ऋक् 4/2/14/5, सायण=स्तम्भ) भी है, और 'खंभा' शब्द इसी से विकसित हुआ है । इसप्रकार जनता में प्रचलित भाषा के सहारे हम मूल तक पहुँच सकें, भाषाविज्ञान इसलिए जनता की बोलियों को विशेष महत्त्व देता है, जबकि व्याकरण इनकी ओर दृष्टि उठाकर भी नहीं देखता । ●●

ध्वज से दिशाबोध

—डॉ० सुदीप जैन

‘ध्वज’ — गतिसूचक (जीवन-चेतना की जागृति का प्रतीक चिह्न) है। ‘ध्वज’ शब्द अनेकों प्रतीकों के लिए विभिन्न सन्दर्भों में जाना जाता है। अपनी ‘विजय’ की घोषणा के लिए पराजित राजा के राजमहल पर विजयी राजा अपना ध्वज फहरा देता है, तो संधि एवं शरणागत के अभिप्राय को संप्रेषित करने के लिए श्वेत-ध्वज फहरा देते हैं। विरोध या अनादर का भाव सूचित करने के लिए काली-ध्वजा लगायी जाती है, तो शोक की सूचना के लिए ध्वजा को आधा झुका दिया जाता है। ज्योतिषशास्त्री आषाढ़ शुक्ल प्रतिपदा को ध्वजा की दिशा देखकर उस वर्ष की वर्षा के बारे में सटीक अनुमान करते हैं। काव्यशास्त्रियों को फहराती ध्वजायें स्वर्ग-अपवर्ग को स्पर्श करने के लिए लालायित प्रतीत होती हैं; तो न्यायशास्त्रियों को हेतुपरक पहिचान देने के लिए ‘ध्वज’ की उपयोगिता लगती है, इसीलिये वे ‘अग्नि’ को ‘धूमध्वज’ अर्थात् ‘धुआँ ही है ध्वजा जिसकी’ — ऐसा कहते हैं। गौरव के क्षणों में भी ध्वज को फहराने की परम्परा है, इसीलिये स्वतन्त्रता-दिवस एवं गणतन्त्र-दिवस जैसे राष्ट्रिय-पर्वों पर ध्वज फहराया जाता है। ‘ध्वज’ का आरोहण ‘उत्थान’ का एव अवरोहण (उतारना) ‘पतन’ का प्रतीक माना जाता है। पूजन-विधान- पंचकल्याणक-महोत्सव आदि विशिष्ट-अनुष्ठानों का शुभारम्भ ‘ध्वजारोहण’ करके ही करते हैं; क्योंकि यह शुभसंकल्पसिद्धि का निमित्त माना जाता है। नूतन-संवत्सरारम्भ के समय भी भवनों, प्रतिष्ठानों, जिनमन्दिरों आदि के शीर्षभाग पर नवीन ध्वज फहराने की प्राचीन- परम्परा इस देश की आज भी अवशिष्ट है।

‘ध्वज’ को प्रेरणा, आस्था एवं समर्पण आदि का प्रतीक माना जाता है। व्यक्ति से लेकर परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व भी ‘ध्वज’ के समक्ष नतमस्तक होता है तथा अपने संस्कारों, संगठन एवं समष्टि के प्रति समर्पितभाव से क्रियाशील होने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

जैन-परम्परा में भी ध्वज का व्यापक महत्त्व माना गया है। अनेकों व्यक्ति जैनध्वज के स्वरूप को लेकर दुविधा की स्थिति में रहते हैं कि इसका आकार, वर्ण, परिमाण आदि कितना-कैसा होना चाहिये? वर्षों तक इसी ऊहापोह में समय बीता और जिसे जैसा समझ

में आया, वैसा ध्वज फहराया। भगवान् महावीर के 2500वें निर्वाणोत्सव की पृष्ठभूमि में मार्च 1973 में पुरानी दिल्ली के 'वैदवाड़ा' की जैन-धर्मशाला में आयोजित बैठक में पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज ने प्रमाणपूर्वक जैनध्वजा को 'पंचरंगी' प्रमाणित किया।

महाकवि विबुध श्रीधर ने जैनध्वज के पंचवर्णी होने का उल्लेख किया है—

“काराविवि णाहेयहो णिकेउ, पविइण्णु पंचवण्णं सुकेउ।

पइँ पुणु पइइ पविरइय जेम पासहो चरित्तु जइ पुणु वि तेम।।”

—(पासणाहचरिउ 1-9)

अर्थ:— हे नट्ठल साहू! आपने भगवान् आदिनाथ का निकेत (दि० जैन मन्दिर) बनवाकर, कराकर तथा उस पर पंचवर्ण वाली सुन्दर सुकेतु (महाध्वजा) फहराकर उसकी प्रतिष्ठा कराई है। अब यदि भगवान् पार्श्वनाथ के चरित की भी रचना करावें, तो उससे आपको आत्मसुख (सन्तोष) होगा।

इन पाँच वर्णों के सम्बन्ध में वास्तुशास्त्र के ग्रंथ 'मानसार' में निम्नानुसार उल्लेख मिलता है— “स्फटिकश्चेत-रक्तं च पीत-श्याम-निभं तथा।

एतत्पञ्चपरमेष्ठी पञ्चवर्ण-यथाक्रमम्।। —(55/44)

अर्थ:— स्फटिक के समान श्वेतवर्ण, लालवर्ण, पीलवर्ण, श्याम (हरा) और नीला (काला) —ये पाँच वर्ण क्रमशः पञ्चपरमेष्ठी के सूचक हैं।

इनमें 'श्याम' पद से हरित (हरे) और 'निभं' पद से नीले या काले वर्ण का अभिप्राय लेना कुछ लोगों को संदिग्ध प्रतीत होता है; किन्तु यह सत्य है। 'श्याम' पद आजकल साँवले या हल्के काले वर्ण का सूचक रूढ़िवशात् माना जाने लगा है, किन्तु मूलतः यह हरितवर्ण का ही सूचक शब्द है। इसीलिए हरियाली से युक्त पृथ्वी को 'शस्य-श्यामला' कहा जाता। इसीप्रकार 'निभं' शब्द को 'नभ' या आकाश का समानार्थी माना गया है— 'निभं नभः' —(कवि कालिदास, ऋतुसंहारम्, 2/11)। तथा आकाश के लिए 'नीलाम्बर' शब्द का प्रयोग मिलता है। वस्तुतः रात्रि में जैसे आकाश का वर्ण गहरा नीला होता है, वही गहरा नीला वर्ण यहाँ 'निभं' पद से अभिप्रेत है। गहरा नीला होने से रात्रि में आकाश काला प्रतीत होता है, संभवतः इसीलिए 'निभं' पद को काले वर्ण का सूचक मान लिया गया है।

इनमें 'श्वेत' वर्ण 'अरिहंत-परमेष्ठी' का सूचक है, स्फटिक निर्मलता की प्रतीक होती है, तो अरिहंत भी चार घातिया कर्मों का क्षय करके निर्मलस्वरूप में स्थित हैं, अतः 'स्फटिक-श्वेत' वर्ण को उनका सूचक बताया गया है। 'लाल' रंग पुरुषार्थ का प्रतीक है, तो 'सिद्ध-परमेष्ठी' ने परमपुरुषार्थ मोक्ष की सिद्धि की है, अतः उन्हें लालवर्ण से संसूचित किया गया है। 'पीला' रंग वात्सल्य को बताता है, तो 'आचार्य-परमेष्ठी' संघ को वात्सल्यभाव से अनुशासित कर सन्मार्ग में मर्यादित रखते हैं; अतः उन्हें पीलेवर्ण से संकेतित किया गया है। 'हरा' रंग समृद्धि की सूचना देता है; 'उपाध्याय-परमेष्ठी' संघ को ज्ञान से समृद्ध करते हैं; अतः यह उनका सटीक परिचायक है। तथा गहरा 'नीला' या काला रंग साधु-परमेष्ठी के

उस वैराग्य का द्योतक है, जिसपर कोई राग-रंग नहीं चढ़ सकता। कवि सूरदास ने लिखा भी है—

“सूरदास की काली कमरिया पै चढ़े न दूजो रंग।”

कुछ विचारक इन पाँच वर्णों को क्रमशः अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का प्रतीक भी मानते हैं। इन पाँचों वर्णों की समानुपातिक पट्टियों से जैनमहाध्वज निर्मित होता है।

इन पाँचों वर्णों के प्रतीकत्व के विषय में प्रकारान्तर से विवरण निम्नानुसार भी मिलता है—

“शान्तौ श्वेतं जये श्यामं, भद्रे रक्तं भये हरित्।

पीतं धनादि संलाभे, पञ्चवर्णं तु सिद्धये।।”

—(उमास्वामि-श्रावकाचार, 138, पृष्ठ 55)

भावार्थ — श्वेत-वर्ण शान्ति का प्रतीक है। श्याम-वर्ण विजय का प्रतीक है; क्योंकि घने श्यामल-मेघ पृथ्वी के निवासियों में उत्साह का संचार करते हैं। रक्तवर्ण कल्याण का प्रतीक है। हरितवर्ण भयनाशक है। पीतवर्ण धनादि के लाभ का सूचक है। इसप्रकार उक्त पाँचों-वर्ण सिद्धि के कारण हैं।

इस पंचवर्णी ध्वजा को विजय का प्रतीक भी कहा गया है—

“विजय-पञ्चवर्णाभा पञ्चवर्णमिदं ध्वजम्।” —(प्रतिष्ठातिलक, 5/10)

राजधानी दिल्ली के जिस ‘महरोली’ क्षेत्र में राजा अनंगपाल के राज्य में पंचवर्णी ध्वजा के फहराने का उल्लेख महाकवि विबुध श्रीधर ने अपने ‘पासणाहचरित’ के पूर्वोक्त उल्लेख में किया है, वह स्थान पहिले ‘मेरुवली’ के रूप में जाना जाता है। इसी का क्रमशः परिवर्तित रूप आज ‘महरोली’ कहा जाता है। चूँकि यहाँ एक विशाल मेरु-मन्दिर था, जिसे विकृत-परिवर्तित करके ‘कुतुबमीनार’ का रूप दिया गया था। इसकी रचना जैन-परम्परा के ‘सुदर्शन-मेरु’ से बहुत मिलती है। इतिहास एवं पुरातत्त्व के साक्ष्यों से भी यह सिद्ध होता है कि यहाँ अनेकों जैन-मन्दिर थे, और यहाँ का राजवंश जिनधर्मानुयायी था। इस सम्बन्ध में निम्नांकित पद्य मननीय है—

“येनाराध्य विशुद्ध-धीरमतिना देवाधिदेवं जिनम्।

सत्पुण्यं समुपार्जितं निजगुणैः संतोषिता बान्धवाः।।

जैनं चैत्यमकारि सुन्दरतरं जैनीं प्रतिष्ठां तथा।

स श्रीमान्विदितः सदैव विजयात्पृथ्वीतले नड्डला।।”

—(जैनग्रंथ-प्रशस्ति-संग्रह, भाग 2, पृष्ठ 85)

अर्थ :— श्री अनंगपाल राजा के प्रधानमन्त्री श्री नड्डल साहू ने तीर्थकर वृषभदेव (आदिनाथ) का एक शिखरबद्ध मन्दिर बनवाया और मूर्ति की पञ्चकल्याण-प्रतिष्ठा कराकर उस मंदिर में विराजमान करवायी। (इस मंदिर पर पंचवर्णी महाध्वजा फहरा रही थी)। मंदिर में प्रवेश कर उन साहू नड्डल ने मन से तीर्थकर-प्रतिमा को भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। वे साहू नट्टल सदैव विजयी हों।

इसप्रकार स्पष्ट है कि दिल्ली के इस प्राचीन गौरवक्षेत्र पर पंचवर्णी जैनध्वज फहराता रहा है। मनीषियों ने इस पंचवर्णी ध्वजा को 'महाध्वजा' की संज्ञा दी है, तथा शेष विविध ध्वजों को 'उपध्वज' कहा है।

इस पंचवर्णी ध्वज के बीचोंबीच 'स्वस्तिक' का चिह्न बना होता है। यह 'स्वस्तिक' "स्वस्तिं करोति इति स्वस्तिकः" की व्युत्पत्ति के अनुसार 'स्वस्ति' अर्थात् कल्याण को करनेवाला माना गया है। यह अपनी आत्मा की सत्ता (अस्तित्व) का सूचक भी इसी नाम से ज्ञापित होता है। इस शब्द को प्राचीन प्राकृत में 'सोत्थिगं' एवं 'सोथिअं' रूप मिलते हैं। यह मंगलसूचक आशीर्वचन भी माना गया है, इसीलिए कवि शूद्रक-विरचित 'मृच्छकटिकम्' प्रकरण में विदूषक आशीर्वाद के रूप में वसंतसेना को "सोत्थि भोदिए" (देवी ! आपका कल्याण हो) कहता है।

'स्वस्तिक' के निर्माण की विधि अत्यन्त वैज्ञानिक है। इसमें सर्वप्रथम नीचे से ऊपर की ओर एक खड़ी रेखा बनाते हैं, जो 'उत्पत्ति' या 'जन्म' की सूचिका है। इसके बाद इसी को काटती हुई बाँये से दायीं ओर आड़ी रेखा बनाते हैं, जो लेटी हुई अवस्था के समान 'मृत्यु' की प्रतीक है। इन रेखाओं का एक-दूसरे को बाधित करने का अभिप्राय यही है, कि जीव स्वयं ही स्वयं का बाधक है, अन्य द्रव्य उसका भला-बुरा नहीं करता है। अपने अज्ञान के कारण ही जीव जन्म-मरण कर रहा है। इन जन्म-मरण के चक्र में वह चार गतियों में परिभ्रमण करता है — यह सूचित करने के लिए + चिह्न के चारों सिरो पर चारों दिशाओं में अनुकम (क्लॉक वाइज़) जानेवाली छोटी रेखायें या दण्ड बनाते हैं 卐 जो जन्म-मरण से चतुर्गति-परिभ्रमण को ज्ञापित करती हैं। फिर इन चारों दण्डों के किनारे तिरछे लघुदण्ड इसप्रकार बनाते हैं, 卐 जो कि चतुर्गति-परिभ्रमण से बाहर निकलने के पुरुषार्थ के प्रतीक हैं। बीच के चार बिन्दु इसप्रकार हम रखते हैं 卐। ये चार बिन्दु नहीं हैं, अपितु चार कूट-अंक हैं, जो कि क्रमशः 3, 24, 5, 4 के रूप में लिखे जाते हैं। इनका सूचक प्राकृत-प्रमाण निम्नानुसार है—

"रयणत्तयं च वदे, चउवीसं जिणं च सदा वदे।

पंचगुरूपं वदे, चारणचरणं सदा वदे।।"

—(इति समाधिभक्तिः 10, पृष्ठ 114)

अर्थात् 3 का अंक रत्नत्रय, 24 का अंक चौबीस तीर्थकरों का, 5 का अंक पंचपरमेष्ठी का एवं 4 का अंक चार-अनुयोगमयी जिनवाणी का सूचक है। इनकी भक्ति, वंदना, सान्निध्य एवं आश्रय से जीव क्रमशः द्रव्यकर्म, भावकर्म एवं नोकर्म इन तीन कर्मों से मुक्त होकर सिद्धशिला पर सिद्ध परमात्मा के रूप में विराजमान हो जाता है; —इस तथ्य को सूचित करने के लिए स्वस्तिक के ऊपर तीन बिन्दु, अर्धचन्द्र-कृति एवं मध्यबिन्दु इसप्रकार बनाया जाता है 卐। इसप्रकार चतुर्गति-परिभ्रमण-निवारण की प्रतीक यह मंगलाकृति

आत्मस्वरूप में स्थिरता की सूचिका है। इनसे अलंकृत होकर जैनों की पंचवर्णी ध्वजा 'महाध्वजा' कहलाती है।

इसके अलावा अन्य कई चिह्नों से सुशोभित ध्वजायें भी 'इन्द्रध्वजपूजा' आदि में फहरायी जाती हैं, जिनका वर्णन निम्नानुसार है—

“माला-मृगेन्द्र-कमलाम्बर-वैनतेय-मातंग-गोपति-रथांग-मयूर-हंसाः।

यस्य ध्वजा विजयिणो भुवनेऽवभान्ति, तस्मै नमस्त्रिभुवन-प्रभवे जिनाय ॥”

—(दशभक्त्यादि संग्रह, पृष्ठ 225)

इसे प्राकृतभाषा के ग्रंथ 'छक्खंडागमसुत्त' में निम्नानुसार बताया गया है—

“मल्लंबरद्धवरहिण-गरुड-गय-केसरि-वसह-हंस-चक्कद्धय-णिवएहि परिवेढिराये ॥”

—(पुस्तक 9, पृष्ठ 11)

अर्थात् मेरुमन्दिर की ध्वजा पर 'दो मालाओं' का चिह्न, गजदन्त शिखर की ध्वजा पर 'कमल' का चिह्न, वृक्ष-मंदिर की ध्वजा पर 'तोते' का चिह्न, वक्षार-मंदिर की ध्वजा पर 'गरुड़' का चिह्न, इष्वाकार गिरि-शिखर पर 'हाथी' का चिह्न, विजयार्थ-शिखर की ध्वजा पर 'वृषभ' (नंदी) का चिह्न, नन्दीध्वर-मंदिर के शिखर पर 'चकवा-चकवी' का चिह्न, कुण्डलगिरिवर के शिखर की ध्वजा पर 'मयूर' (मोर) का चिह्न एवं रुचकगिरि की ध्वजा पर 'हंस' का चिह्न होता है।

इनमें माला 'विजय' की, कमल 'निर्लिप्तता' का, तोता 'ज्यों का त्यों जिनवचन-बोलने' का, गरुड़ 'उच्चगामिता' का, हाथी 'गंभीर व्यक्तित्व' का, वृषभ 'पुरुषार्थ' और भद्रपरिणाम का, चकवा-चकवी 'अनन्य धर्मस्नेह' के, तथा हंस 'नीर-क्षीर विवेक' के रूप में स्वपरभेदविज्ञान का प्रतीक है। उपरोक्त सभी ध्वजायें दिव्यरत्नों से निर्मित मानी गयी हैं, तथा ये सदैव फहराती रहती हैं।

इनके अतिरिक्त समवसरण की पाँचवीं भूमि में एवं अकृत्रिम चैत्यालय की दूसरी भूमि में चारों दिशाओं में महाध्वजा के साथ निम्नलिखित-चिह्नों से युक्त लघुध्वजायें भी फहराती रहती हैं— “सिंह-गय-वसह-गरुड-सिंहिदिणहंसारविंद-चक्क धया।

पुह अट्ठसया चउदिसिमेंक्केक्के अट्ठसय खुल्ला ॥”

—(त्रिलोकसार, आ० नेमिचंद्र सि०च०, गाथा 1010)

अर्थ :— चैत्यभूमि में चारों दिशाओं में सिंह, हाथी, वृषभ, गरुड, मयूर, चन्द्र, सूर्य, हंस, कमल और चक्र के चिह्नों से अलंकृत 108-108 ध्वजायें होती हैं।

समवसरण की द्वितीय पीठ पर आठ महाध्वजायें मानी गयी हैं।

—(तिलोयपण्णात्ति, प्रथम भाग, पृष्ठ 26)

इतना ही नहीं, अष्ट-मंगलद्रव्यों में एक मंगलद्रव्य 'ध्वजा' भी मानी गयी है।

ध्वजाओं पर चिह्नों का भी बड़ा विशेष महत्त्व माना गया है। ये कई महत्त्वपूर्ण बातों

के द्योतक होते थे। कहा जाता है कि भगवान् महावीर बाल्यावस्था में जिस 'नन्द्यावर्त' राजप्रासाद में जन्मे थे, उसकी ध्वजा पर 'सिंह' का चिह्न अंकित था, अतः उनका चिह्न 'सिंह' माना गया। इसीप्रकार देवविमानों की ध्वजाओं पर भी अनेक मांगलिक-चिह्न अंकित होते हैं।

जिनमंदिर में ध्वज-आरोहण की विशिष्ट प्रक्रिया होती है। इसमें ध्वज के दण्ड का नाम, ध्वज स्थापित करने का स्थान, एवं ऊँचाई आदि का विस्तृत विवरण जैन-ग्रन्थों में प्राप्त होता है। इसका संक्षिप्त-विवरण निम्नानुसार है—

ध्वजदण्ड— मन्दिर के निचले (आसन के) पाषाण से लेकर कलश तक की समग्र ऊँचाई के 1/3 भाग-प्रमाण ध्वजदण्ड को 'उत्तम' माना गया है। यदि इस 1/3 भाग में से समग्र का 1/10 भाग और कम कर दें, तो उसे 'मध्यम' माना जायेगा तथा 1/3 भाग में से 1/5 भाग और कम कर दिया जाये, तो उस ध्वजदण्ड को 'कनिष्ठ' माना जायेगा।

ध्वजस्थान— मन्दिर के शिखर की समग्र ऊँचाई के 5/6वें भाग में ईशानकोण में ध्वजदण्ड स्थापित करने का स्थान (छिद्रयुक्त दृढ-स्तम्भ) बनाया जाता है।

ध्वज की ऊँचाई— मंदिर के कलश से ध्वजा ऊँची रहनी चाहिए।

'प्रतिष्ठासार' (5/74-75) के अनुसार कलश से एक हाथ ऊँची ध्वजा आरोग्यवर्धिनी, दो हाथ ऊँची ध्वजा कुलवर्धिनी, चार हाथ ऊँची ध्वजा राज्यवर्धिनी एवं पाँच हाथ ऊँची ध्वजा सुभिक्षकारिणी मानी गयी है। 'प्रासादमण्डन' (4/48) के अनुसार जिनालय कभी भी ध्वजारहित नहीं होना चाहिए। ऐसा होने पर वहाँ असुरों का निवास हो जाता है। इसके अलावा पुर, नगर, परकोटा, राजमहल, बावडी, कूप, तालाब एवं रथ आदि भी ध्वजाओं से मंडित करने का विधान ग्रन्थों में मिलता है।

ध्वज-फहराने में दिशा का भी महत्त्व माना गया है। 'पूर्वदिशा' में ध्वज फहराने से इष्टकार्यसिद्धि, उत्तरदिशा में फहराने पर आरोग्य एवं सम्पत्ति-प्राप्ति, पश्चिम-ईशान-वायव्य में ध्वज फहराने पर वर्षा का आना एवं मंगल होता है, दक्षिण-आग्नेय एवं नैऋत्य में ध्वज फहराने पर शान्ति, दान-पूजादि शुभ कार्य की सम्पत्ति होती है।

इसप्रकार ध्वज का व्यापक महत्त्व जैन-परम्परा में माना गया है।

जैनआगमों की मूलभाषा प्राकृत का ध्वज भी दिग्दिगन्त में फहराये, 'प्राकृतविद्या' इसी मंगलभावना के साथ प्रवर्तित है। इस पावन-अनुष्ठान में विश्वभर के समस्त भाषानुरागियों एवं प्राकृत-प्रेमियों का नैष्ठिक-उदार-सहयोग समर्पितभाव से अपेक्षित है। हमें आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि भगवान् महावीर के 2600वें जन्मकल्याणक वर्ष के सुअवसर पर सभी प्राकृत-प्रेमी इस संकल्प की पूर्ति के लिये सरकार से सहयोग लेंगे और निजीरूप में भी पूर्ण समर्पण के साथ कार्य करेंगे।



पिच्छ और कमण्डलु

—आचार्य विद्यानन्द मुनिराज

अचेलत्वं च लुंचित्वं व्युत्सृष्टांग-सपिच्छकम् ।

एतदुत्सर्गलिंगं तु जगृहे मुनिपुंगवः ॥

—(आचार्य दामनन्दि, पुराणसार संग्रह 3/34, पृ० 40)

अर्थ :— वस्त्र-रहितता, केश-लुंचनता, अंग-निःस्पृहता और मयूर-पिच्छका —इन स्वाभाविक चिह्नों को मुनियों में श्रेष्ठ उन तीर्थंकर ऋषभदेव ने ग्रहण किया ।

जैनसाधना जहाँ एक ओर बौद्धसाधना का उदगम है, वहीं दूसरी ओर वह शैवमार्ग का भी आदिद्योत है । ऋषभदेव और शिव के व्यक्तित्व में जो समानता है, वह भी यही इंगित करती है कि जैन और शैव-साधनायें किसी समय एक ही उत्स से फूटी होंगी ।

—(रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 626)

दिगम्बर-मुनि के पास संयम तथा शौच के उपकरण के रूप में 'पिच्छ' और 'कमण्डलु' होते हैं । सर्वथा नग्न एवं 'अपरिग्रह-महाव्रती' मुनि को चर्या की निर्दोषता के रक्षार्थ इन्हें रखने की शास्त्राज्ञा है । पिच्छ और कमण्डलु मानो मुनि के स्वावलम्बन के दो हाथ हैं । प्रतिलेखन-शुद्धि के लिए पिच्छ की नितान्त आवश्यकता है, और पाणि-पाद-प्रक्षालन के लिए, शुद्धि के लिए कमण्डलु वाञ्छनीय है । पिच्छका मयूरपंखों से बनायी जाती है; अन्य पंख पिच्छ के लिए उपादेय नहीं माने गये । क्योंकि मुनियों के लिए हिंसा, चौर्य, परिग्रह आदि सर्वथा निषिद्ध हैं और मयूरपंख ही ऐसे सुलभ हैं, जिन्हें वह उल्लिखित दोषों से बचते हुए ग्रहण कर सकते हैं । वह इसप्रकार कि मयूर वर्ष में एक बार अपनी जीर्ण-पक्षावली का त्यागकर प्रकृत्या नवीन-पक्ष प्राप्त करता है; अतः समय पर बिना हिंसा उसे प्राप्त किया जा सकता है । वनों में विचरते हुए मुनियों को वृक्षों के नीचे पुष्कल-परिमाण में स्वयं-पतित पंख अनायास मिल जाते हैं । ये पंख स्वयं मयूर द्वारा परित्यक्त अथ-च भूमिपतित होते हैं; अतः इन्हें ग्रहण करने में चौर्यदोष भी नहीं लगता । तीसरी बात यह कि प्रतिवर्ष और पुष्कलमात्रा में अनायास मिलते रहने से यह आवश्यक नहीं कि इनको बटोरकर, संग्रहीत कर आगामी वर्षों के लिए संचित किया जाए, जिससे कि परिग्रहदोष की सम्भावना हो । इसके अतिरिक्त मयूरपिच्छ का लवभाग (बालमय अग्रभाग) इतना मृदु होता है कि प्रतिलेखन से

किसी सूक्ष्म-जन्तु की हिंसा भी नहीं होती। स्वयं मयूरी के पंख भी पिच्छि के निमित्त उपादान नहीं हो सकते। एक जाति के युगल (दम्पति) में भी समान मृदुपिच्छ प्रसूत करने की क्षमता नहीं है। अन्यजातीय पक्षियों के लिए तो कहना व्यर्थ ही है। इन कारणों से मयूरपिच्छधारण दिगम्बर-साधु की मुद्रा है। पिच्छी रखने से वह नग्नमुद्रा किसी प्रमादी की न होकर त्यागी का परिचय उपस्थित करती है। 'मुद्रा सर्वत्र मान्या स्यात् निर्मुद्रो नैव मन्वते' — नीतिसार की यह उक्ति सारगर्भित है। मुद्रा चाहे शासकवर्ग हो, धार्मिकवर्ग हो अथवा व्यापारवर्ग हो, सर्वत्र अपेक्षित होती है। मुद्रारहित की मान्यता नहीं। वैष्णवों, शाक्तमतानुयायियों, शैवों, राधास्वामी-साम्प्रदायिकों आदि में तिलक लगाने की पृथक्-पृथक् प्रणाली है। राजभृत्यों के कन्धों पर अथवा सामने वक्षःस्थल पर वस्त्रनिर्मित या धातुघटित मुद्रा (चिह्न) होती है, जिससे उसकी पद-प्रतिष्ठा जानी जाती है और राजभृत्यता की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। कागज के नोट मुद्रांकित होने से चलते हैं। डाक-तार विभाग मुद्रात्मक है। एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र में प्रवेश पाने के लिए अनुमति-पत्र (पासपोर्ट) और रेलयात्रार्थ यात्रापत्र लेना आवश्यक है। इसलिए भी श्रमण-परम्परा के आदिकाल से अधिकृत-चिह्न के रूप में पिच्छि-कमण्डलु रखने का विधान चला आया है। 'भद्रबाहु-क्रियासार' में पिच्छि रखना आवश्यक बताते हुए कहा गया है कि "जो श्रमण पिच्छि नहीं रखता तथा उसकी निन्दा करता है, वह 'मूढचारित्र' है।" क्योंकि चारित्रपालन में, कायोत्सर्ग में, गमनागमन में, बैठने-उठने में पिच्छि का सहयोग विदित है। अपेक्षासंयमी मुनि को अवधिज्ञान से पूर्व पिच्छि-धारण करना शास्त्रसम्मत है।² मराठी-कवि जनार्दन ने त्यागियों के लिए लिखा है कि—

करोनी परिग्रह-त्याग, तीन राखावे काये संग।

पुस्तक, पीछी, ठेवी अभंग कमण्डलभृंग शौचासी ।। 130 ।।

अर्थात् परिग्रहों का त्याग करो और पुस्तक, पिच्छि और कमण्डलु को रखो। यहाँ 'पुस्तक' का अर्थ 'शास्त्र' है। वास्तव में शौच, संयम और ज्ञान के तीन उपकरण रखने मुनि को उचित हैं। आचार्य सकलकीर्ति ने 'मूलाचार' में सूचना दी है कि 'कार्तिकमास में स्वयंपतित पिच्छों से सत्-प्रतिलेखन तैयार कर लेना चाहिए, यह लिंग है, योगियों का चिह्न है।'³ जैसे शिशिर में वृक्षों के जीर्ण-पत्र स्वयं गिर जाते हैं, वैसे ही मयूरपंख कार्तिक में झड़ जाते हैं। अहिंसामहाव्रती जब किसी स्थान पर विराजमान होते हैं, तब इसी कोमलबालाग्र पिच्छि से बहारकर बैठते हैं; इससे दृश्य-अदृश्य जीवाणु वहाँ से अन्यत्र कर दिये जाते हैं। दिगम्बर-सम्प्रदाय में मुनि, ऐलक, क्षुल्लक तथा आर्यिका मातायें पिच्छि-कमण्डलु धारण करते हैं। 'भद्रबाहु-क्रियासार' में वर्णन है कि "वह सूरि पांच सौ शिष्यों-सहित अथवा चार, तीन, दो एक पिच्छिधारियों को साथ लेकर विहार करता है।" संघपति भी आचार्य का शिष्य होता है और आर्यिका पिच्छिधारण करती है।⁴ इसप्रकार पिच्छि रखने का निर्देश प्राचीन श्रमण-परम्परा से चला आया है। मयूरपंखनिर्मित पिच्छिधारी दिगम्बर का उल्लेख वैदिकों

के पुराण-साहित्य में भी पाया जाता है। पद्मपुराण, विष्णुपुराण तथा 'शिवपुराण' के टिप्पणी में दिये गये उद्धरणों से यह स्पष्ट है।⁵ 'शिवपुराण' में एक कथा आई है कि शिव ने दिगम्बर-मुद्रा धारण कर देवदारु-वन में आश्रम का निरीक्षण किया था। उनके हाथ में मयूरपिच्छि थी। प्रसिद्ध स्तोत्र 'नमःशिवाय' (पंचाक्षर स्तुति) में 'दिव्याय देवाय दिगम्बराय' शिव की दिगम्बर-मुद्रा लिखी है। पिच्छि को प्रतिलेखन-मात्र नहीं माना गया है; अपितु वन्दना, सामायिक, प्रायश्चित्त, रुग्णदशा, आहारसमय, गमन आदि प्रकरणों में पिच्छि के विभिन्न उपयोगरूप शास्त्रों में निर्दिष्ट हुए हैं। वन्दना के समय मुनि आचार्य-महाराज को 'मैं वन्दना करता हूँ' — ऐसा कहते हुए पश्वर्धशय्या से आस्थित होकर पिच्छि को मस्तकस्पर्श देते हुए वन्दना करे।⁶ इसीप्रकार जब आचार्य प्रतिवन्दन करें, तब उन्हें सपिच्छाञ्जलि होना चाहिए।⁷ जिस मुनि महाराज को प्रायश्चित्त दिया गया है, उन्हें पिच्छि का लोमाग्र भाग आगे की ओर रखना होता है। यह उनके प्रायश्चित्तीय होने का निदर्शक है। जब वे आहार के लिए श्रावकबस्ती में जाते हैं, तब पिच्छिकमण्डलु (दोनों) उनके हाथ में हाते हैं। यों साधारण विहार-समय में कमण्डलु को श्रावक, ब्रह्मचारी आदि लेकर चल सकते हैं। जिस श्रावक के यहाँ उन्हें आहारविधि मिल जाती है, तब वे पिच्छि और कमण्डलु को वामहस्त में एक साथ धारण करते हैं और दक्षिण-स्कन्ध पर अपना पंचांगुलिमुकुलित दक्षिणपाणि रखकर आहारस्वीकृति व्यक्त करते हैं।⁸ आहार करते समय पिच्छिस्पर्श 'अन्तराय' माना गया है, अतः उसे उस समय दूर रखते हैं। कुछ लोग मयूरपंख को प्राण्यंग होने से अपवित्र कहते हैं। किन्तु श्रीचामुण्डरायरचित 'चारित्रसार' का कथन है कि 'शरीरजा अपि मयूरपिच्छ-सर्पमणि-शुक्तिमुक्ताफलादयो लोके शुचित्वमुपागताः' — अर्थात् मयूर के पंख, सर्पमणि, सीप और मुक्ताफल आदि (गजमुक्ता) शरीरज होने पर भी लोकव्यवहार में शुचि माने गये हैं। यही हेतु है कि शास्त्रों ने इसे 'धर्मपरिग्रह' स्वीकार किया है। 'मूलाचार' तो पिच्छि को 'दया का उपकरण' कहते हैं। उनकी मान्यता है 'प्रतिलेखन के लिए मयूरपिच्छिधारण श्रेष्ठता की बात है।' तीर्थंकर परमदेव इसे सूक्ष्म जीवों तक का रक्षात्मक होने से दयोपकरणरूप में योगियों के लिए प्रशंसनीय कहते हैं।⁹ 'मंत्रलक्षणशास्त्र' कहता है कि पिच्छि आवश्यकता होने पर छत्र भी है और चामर भी, यंत्र और मंत्र की प्रसिद्धि (सिद्धि) के लिए भी इसका व्यवहार किया जाता है और सम्पूर्ण प्राणियों की रक्षा के लिए तो है ही।¹⁰ इसप्रकार पिच्छि पंचगुणविभूषित है। 'मूलाराधना' में पिच्छि के अन्य पाँच गुण बताते हुए कहा है कि 'रज और स्वेद का अग्रहण, मृदुता, सुकुमारता और लघुत्व (हल्कापन); जिस पिच्छि में ये पंचगुण विद्यमान हों, उस प्रतिलेखन-उपकरण की प्रशंसनीयता असंदिग्ध है।'¹¹ 'सकलकीर्ति-धर्मप्रश्नोत्तर' में मूलाराधनाप्रोक्त पंच-गुणों का कीर्तन करने के पश्चात् इसमें निर्भयता आदि अतिरिक्त गुणों का निर्देश किया गया है।¹² 'नीतिसार' का कथन है कि 'छाया में, आतप में अथवा एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमनागमन करते समय मयूरपिच्छि से आलेखन करके ही मुनि को वर्तना चाहिए।'¹³ 'चारित्रसार' में किसी

प्रकार के तत्क्रिया-असमर्थ रोगादि कारण होने पर कहा गया है कि 'मुनि पर कहा गया है कि 'मुनि पिच्छसहित अंजलिबद्ध होकर, जुड़ी हुई अंजलि को वक्षःस्थल के मध्य में स्थित करके पर्यकासन, वीरासन अथवा सुखासन से बैठकर, मन को एकाग्र कर स्वाध्याय तथा वन्दना करे।¹⁴ खड़े होने की शारीरिक- अशक्तिदशा में ही यह विधान है, स्वस्थ रहते नहीं। मयूरपिच्छ में एक अन्य विशिष्ट-गुण 'मूलाराधना' (पृष्ठ 215) में बताया गया है कि "जो सवस्त्रलिंग धारण करते हैं, उन्हें वस्त्रखंड को बहुत शोधना होता है; परन्तु मयूरपिच्छ-मात्र परिग्रही (निर्ग्रन्थ) को बहुत शोधने की आवश्यकता नहीं। स्वयं ही उन्हें अप्रतिलेखन गुण प्राप्त हैं।'¹⁵ 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' का प्रतिपादन है कि 'श्रमणशास्त्रों में अदत्त के आदान को 'स्तेय' (चौर्य) कहा है। कोई भी लघु या महत् वस्तु, जो स्वयं की न हो, परकीय हो, उसे वस्तु के स्वामी से ही याचनाकर प्राप्त करना चाहिए। जान-बूझकर अथवा प्रमादवश, अनजाने ग्रहण की हुई वस्तु चौर्यलब्ध ही मानी जाएगी। इस अर्थ में सामान्यरूप से किसी भी अदत्तवस्तु के ग्रहण का विधान मुनि के लिए नहीं है। तब क्या मयूरपिच्छ और कमण्डलु जो अरण्य में पड़े हुए मिल जाते हैं, मुनि को नहीं ग्रहण करने चाहिए? वे भी तो अदत्त हैं, उनका आदान कैसे हो? इस शंका का समाधान करते हुए आगे कहा गया है कि नदियों, निर्झरों आदि का जल, सूखे हुए गोमयखण्ड, अथवा भस्म आदि, अपनेआप मुक्त मयूरपंख एवं तुम्भीफल आदि (उक्त आदि शब्दों से मिट्टी तथा सामुद्रिकनारियल अर्थ ग्रहण करना अभीष्ट प्रतीत होता है) ग्रहण करने में स्तेयदोष नहीं लगता, यह सब 'प्रासुक' है, इसमें स्तेय नहीं है और इनका ग्रहण प्रमत्तत्व की हानि के लिए अभीष्ट है।¹⁶ कषायसहित मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को 'प्रमत्तयोग' कहा गया है; किन्तु धर्मपरिग्रह के रूप में आवश्यक पिच्छ और कमण्डलु का ग्रहण कषायनिमित्तक नहीं है, प्रत्युत-वीतराग मुनिचर्या का उपकारक है। तथा च जीवरहित, अचित्त होने से पिच्छ-कमण्डलु प्रासुक¹⁷ है। 'भद्रबाहुक्रियासार' में पिच्छ को मोक्ष का साधक अन्यतम-कारण बताते हुए कहा है कि जो मुनि अपने पास पिच्छ नहीं रखता है, वह कायोत्सर्ग के समय, स्थिति में, उत्थान में, गमनागमन में अपनी दैहिक-क्रियाओं से सूक्ष्म-जीवों का नाश करता है। परिणामस्वरूप उसे हिंसादोष लगता रहता है और मोक्षप्रतिबन्धक-कर्मों से उसे मुक्तिश्री की प्राप्ति नहीं होती।¹⁸ उक्त समर्थनों से सिद्ध है कि मयूरपिच्छका धारण करना त्यागियों के लिए आवश्यक है। निर्वाणभूमि पर पहुँचाने में जहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-समन्वित सम्यक्चारित्र साक्षात्कारण है, वहाँ पिच्छ-कमण्डलु भी चारित्र्यके सहायक-उपकरण होने से उपकारक अथवा परम्परित-कारण हैं। अत्यन्त कोमल, नयनाभिराम, सुन्दर होते हुए भी मयूर इनका यथासमय त्याग कर देता है और मोह नहीं करता। इसप्रकार यह निर्मोह सिखानेवाली है। मुनि की पिच्छ को देखते ही वीतरागभाव का स्मरण होना चाहिए। अहो ! तिर्यक्योनि होते हुए भी मयूर को अपने एकमात्र अलंकरण बर्हे पर मोह नहीं उत्पन्न हुआ, मुनि तो मनुष्य पर्यायधारी है, धीमान् है, विवेकसम्पन्न है। यदि वह रागान्ध हो, तो धर्म रसातल में चला

जाना चाहिए। मयूरपंख देखकर संयम के भावों में अवश्य वृद्धि होती है और इसी हेतु से इसे 'संयमोपकरण' कहना समीचीन है। पिच्छधारण निर्मल तथा शुद्ध जिनलिंग है। इस तथ्य को 'षट्प्राभृत' ग्रन्थ के 'भावप्राभृत' प्रकरण की 79वीं गाथा के चतुर्थ चरण 'जिनलिंगं गिम्मलं सुद्धं' की टीका में स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'जिनलिंगं नग्नरूपमर्हन्मुद्रामयूरपिच्छ-कमण्डलुसहितं निर्मलं कथ्यते। तद्द्वयरहितलिंगं कश्मलमित्युच्यते। तीर्थकरपरमदेवात्तप्त-र्द्धेर्विना अवधिज्ञानाद् ऋते चेत्यर्थः।' — अर्थात् मयूरपिच्छ तथा कमण्डलु सहित नग्नरूप ही अर्हन्त भगवान् की मुद्रा है। वह निर्दोष एवं निर्मल है। जो इन दोनों से रहित नग्नरूप है, वह मलिन कहा जाता है। किन्तु तीर्थकर परमदेव, तप्तर्द्धिधारक तथा अवधिज्ञानी को इनका धारण करना आवश्यक नहीं है। ये (उक्त) पिच्छकमण्डलुरहित भी अर्हन् मुद्राधारी माने गये हैं। 'भावसंग्रह' में भी अवधिज्ञान से पूर्व तक पिच्छधारण प्रतिलेखनशुद्धि के निमित्त आवश्यक कहा है।¹⁹ अवधिज्ञान के अनन्तर इसका धारण आवश्यक नहीं। उपेक्षा-संयमी को पिच्छ की आवश्यकता नहीं। किन्तु अपेक्षासंयमी को धारणीय है ही। 'आदानसमिति' तथा 'निक्षेपसमिति' का उल्लेख करते हुए श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि 'अपहृतसंयमधारी मुनियों को आगम-अर्थ के प्रत्यभिज्ञान के लिए बार-बार ज्ञानोपकरण (शास्त्र) की आवश्यकता होती है, विशुद्धि के लिए शौचोपकरण 'कमण्डलु' की तथा संयमोपकरणरूप में 'पिच्छ' की आवश्यकता होती है। इन शौच-संयम-ज्ञानोपकरणों के बारम्बार ग्रहण तथा विसर्ग में जो प्रयत्नपरिणाम होता है, उसे 'आदानसमिति' तथा 'निक्षेपणसमिति' कहा गया है।²⁰ एकादश-प्रतिमाधारी उत्कृष्ट-श्रावक दो प्रकार का होता है, प्रथम एकवस्त्रधारी, द्वितीय वस्त्ररहित कौपीनमात्रधारी। ये दोनों ही तप, व्रत, नियमादि पालन करते हैं। कौपीनमात्र धारण करनेवाले ऐलक 'कचलोंच' करते हैं। पिच्छधारण दोनों (क्षुल्लक, ऐलक) करते हैं। अनुप्रेक्षा (द्वादशानुप्रेक्षा) धर्मध्यान तथा किसी एक स्थान पर करपात्र में स्थितिभोजन और आसन लेकर भी आहार ग्रहण करते हैं।²¹

मयूरपिच्छ के महत्त्व की सीमा नहीं है। त्यागी के लिए पिच्छ कितनी उपकारिणी है, यह पर्याप्त बताया जा चुका है। पिच्छ को 'मिथ्यात्वनाशक तथा दुर्मदगजेन्द्र को बाधा देनेवाला सिंह' कहा गया है। 'मिथ्यात्वनाशं मदसिंहराजम्' उसके लिए प्रयुक्त प्रशंसावचनों में से हैं। वसुनन्दिश्रावकाचार, चारित्रसार, भगवती-आराधना और मूलाचार इत्यादि ग्रंथों में पिच्छधारण का महत्त्व निरूपित किया गया है। जो त्यागी पिच्छधारण करते हुए अपने भावलिंगी, वीतराग, त्यागप्रधान, लोकगुरुस्वरूप का संरक्षण नहीं करता, वह मुनिवेष को तिरस्कृत करता है। मुनि और सामान्य लौकिक आगारधर्मियों में यदि सम्यक्चारित्र और अपरिग्रहादि से प्रतीयमान शिष्ट-विशिष्ट-बोधक भेदरेखा नहीं होगी, तो पर्वत के शिखर और घाटियों के निम्नोन्नतत्व को समान आंकना होगा। पिच्छ-ग्रहण करने पर वह प्रवृत्तिमार्ग त्यागकर निवृत्तिमार्ग पर गतिमान् होता है। कोटि-कोटि जिन जिस दिगम्बरत्व को अपना आराध्य, वन्दनीय मानते हैं; वह उस वर्ग का महानुभाव व्यक्ति बन जाता है।

ऐसी स्थिति में तप, त्याग, चारित्र और आत्मकल्याण की वीथी को प्रशस्त करनेवाले व्यवहारों एवं निश्चयों के कठिन-कठोर मार्ग पर त्यागी को अधिक से अधिक सशक्त और अकम्प पद रखने चाहिए। जिस आस्था से उसने पिच्छ-कमण्डलु लिये हैं, उस आस्था के लोकपूज्यरूप की संवर्द्धना में योग देना मुनि का धर्म है। यदि पिच्छ लेकर भी त्यागी के मन में अकिंचन्य का उदय नहीं हुआ और परिग्रहों पर तृष्णा बनी रही, तो निश्चय ही मयूरपंख के चन्द्रक उस आत्मवचित पर हँसेंगे। इससे तो राग का मार्ग अच्छा था। उसी पर चलते तो एक निश्चित-मार्ग तो सम्मुख रहता। अब पाँव शिला पर हैं और मन कुसुम की मृदुल-पंखड़ियों पर यह द्वेषाचार श्लाघनीय नहीं। जिस भूमि पर खड़े होना है, उसी के होकर रहो।

पिच्छ-कमण्डलु धारण मात्र से मोक्ष मिल गया, —ऐसा मानना मिथ्यात्व है। यदि ऐसा होता, तो पिच्छ का प्रथमधारक मयूर पहले मोक्ष गया होता। बहुत से अकिंचन जो धातुपात्रों के अभाव में कमण्डलुधारक हैं, प्रतिष्ठा को प्राप्त किये होते। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। यह तो त्यागी के लिए अनिवार्य आवश्यकता होने से विहित है और बन्धन है। उसके लिए तो परपदार्थ सभी रुकावटें हैं और शरीर तक बन्धन माना गया है। पिच्छ-कमण्डलु तो शरीर नहीं हैं और बाहर की वस्तुयें हैं। कदाचित् इसी आशंका से मुनियों को सावधान करने की आवश्यकता शास्त्रकारों ने अनुभव की है। एक ओर वे कहते हैं कि यदि बिना पिच्छ के सात कदम गमन कर लिया, तो कायोत्सर्ग करना होगा और दो कोस प्रमाण मार्ग पर बिना पिच्छ चल लिये, तो शुद्धि तथा उपवास दो-दो प्रायश्चित्त आवश्यक होंगे।²² दूसरी ओर कहते हैं कि जो त्यागी पिच्छ तथा संस्तर (चटाई आदि) पर ममत्व करता है, तथा ममत्वपरिणाम से आर्त-रौद्रध्यान-परायण होता है, उसे क्या मोक्षसुख की प्राप्ति हो सकती है? 'सरहपाद' ने भी पिच्छव्यामोह पर कटाक्ष करते हुए लिखा है कि— 'पिच्छग्रहणमात्र से मुक्ति मिलती होती, तो उसका प्रथम-अधिकारी मयूर होना चाहिए और यदि उच्छ-भोजन से मोक्ष होता, तो वन में विकीर्ण (स्वयं पतित) वृक्षपत्रावली खाकर जीवनयात्रा चलानेवाले पशुओं को वह होना चाहिए; किन्तु चमरी गाय, पिच्छधर मयूर, उच्छ और शिलभोजी वन्यजीवों को उद्दिष्ट उपकरणों से मोक्ष सम्भव नहीं। मोक्ष की उपलब्धि सम्यक्चारित्र द्वारा ही होती है। पिच्छ और कमण्डलु मुनिचर्या के सहायक-उपकरण मात्र हैं और उपेक्षासंयम अवस्था में, अवधिज्ञानी होने पर अथवा तप्तर्द्धि होने पर उसकी आवश्यकता नहीं रहती। पिच्छ से विहित चर्यासौविध्यमात्र ग्राह्य है, यथेच्छ व्यवहार उसके द्वारा नहीं किया जा सकता। यथेच्छ व्यवहार तो प्रायश्चित्त का कारण बन जाता है। नीरोगदशा में यदि मुनि उसे मस्तक पर छायाार्थ उत्तोलित करता है, छाती को अच्छादित करता है और मस्तक-आवरण बनाता है; तो उसे प्रायश्चित्त कल्याणक देना चाहिए। रुग्णदशा में दोष नहीं माना गया।²³ तथापि वह अपवाद मार्ग है और यावच्छक्य मुनि को अपवाद और प्रायश्चित्तीय मार्ग नहीं लेना चाहिए। पिच्छ अप्रतिलेखन-गुण से युक्त है, किन्तु कमण्डलु में सम्मूर्च्छन-जीवों की

उत्पत्ति होती रहती है; अतः उनके निराकरणार्थ एक पक्ष में उसे बाहर-भीतर से प्रक्षालित करते रहना चाहिए। यदि एक पखवाड़े के पश्चात् भी कमण्डलु का सम्प्रोक्षण नहीं किया गया, तो प्रतिक्रमण तथा उपवास लेना होगा।²⁴

इसप्रकार के अनेक उदाहरण हैं, जो पिच्छिग्रहण की मर्यादा का निरूपण करते हैं और वैसे भी हैं जो अवधिज्ञानादि विशेष-स्थितियों में इसकी आवश्यकता का सर्वथा निराकरण करते हैं, तथा इस पर उत्पन्न हुए व्यामोह की 'यावच्च आर्तरौद्रं तावन्न मुञ्चति' कहकर भर्त्सना भी करते हैं। इन्हें परस्पर-विरोधी नहीं मान सकते। क्योंकि जो पिच्छिकमण्डलुग्रहण की आवश्यकता का निरूपण करते हैं, वे मुनिचर्या के विधिपरक-सूत्र हैं और सम्यक् जिनलिंग को प्रमाणित करते हैं; किन्तु पिच्छिग्रहण मात्र से मोक्ष नहीं होता, अथवा पिच्छिकमण्डलु पर आसक्तिभाव नहीं रखना चाहिए — इत्यादि प्रतिपादन करनेवाले सूत्र हैं, वे मुनि के व्यामोहनिर्वृतक हैं। हो सकता है, मोह तथा अज्ञान के प्रभाव से मुनि को अपने पिच्छिकमण्डलु पर व्यामोह उत्पन्न हो जाये, या शास्त्रज्ञान के अभाव में अथवा मूढ-आग्रह से वह पिच्छि को ही इतना महत्त्व देने लगे कि—'बस ! पिच्छि मिल गई, मानो मोक्ष मिल गया' —और ऐसा मानकर सम्यक्चारित्रपालन में शिथिलाचारी हो जाए, ऐसी स्थिति में उसे इन गाथाओं, श्लोकों तथा सूत्रों से संवित् मिलनी चाहिए कि पिच्छिग्रहण करने मात्र से कोई सम्यक्त्वी नहीं बन जाता।²⁵

सर्वस्वत्यागी के व्रतों की निर्दोष रक्षा के लिए ही इन निषेधसूत्रों का निर्माण किया गया है। क्योंकि परिग्रह का अर्थ विशाल-सम्पत्ति से ही गतार्थ नहीं होता, एक सूई भी मूर्च्छा (व्यामोह) का कारण हो सकती है और वह सूची का अभाव भी मूर्च्छाकारक होने से परिग्रह कहा जाएगा। 'मूर्च्छा परिग्रहः' —यह सूत्र उपादानों की विपुलता को ही परिग्रह नहीं मानता, अपितु जिस वस्तु के लवमात्र ग्रहण से मूर्च्छा का उदय हो, वही परिग्रह है। तब व्यामोह कोने से पिच्छि भी मुनिचर्या की साधिका न होकर प्रत्यवायकारिणी हो सकती है। 'परमात्मप्रकाश' की उक्ति है कि 'चेला-चेलियों का परिवार बढ़ाकर, पुस्तकों का प्रभूत संग्रह कर अज्ञानी को हर्ष होता है। किन्तु जो ज्ञानी है, वह इन परिग्रहों से शर्माता है तथा इन्हें राग और बन्धकारण मानता है। यदि त्यागी का मन चेला-चेलियों, पुस्तकों, पिच्छि-कमण्डलुओं, श्रावक-श्राविकाओं, आर्यिका-शुल्लक-ऐलक-परिवारों में तथा चौकी-पट्टे-चटाई आदि में उलझा रहा, तो इनको लेकर रात-दिन उसे आर्त-रौद्र ध्यान में फँसना पड़ेगा। न निराकुलचर्या हो सकेगी न स्वाध्याय और सामायिक। जिस आत्मकल्याण के लिए मुनिदीक्षा ली, वे उद्देश्य कहीं मूर्च्छाओं में खो जायेंगे।²⁶ ये परिग्रह त्यागी का पतन कराने में सहायक होकर उसे आत्ममार्ग से विस्मृत कर सकते हैं। त्यागी और रागी के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं।

प्रसंगवश यहाँ यह लिखना अवसरोचित होगा कि त्यागियों को धन-सम्पन्न तथा स्वल्पवित्त, विशेष अथवा सामान्य श्रावकजनों के आगमन पर अपने को अधिक गौरवशिखरारूढ नहीं मानना चाहिए। उनका समभाव ही लोककल्याणकारक है। ऊँचे-नीचे आसनों की

व्यवस्था तो राजपरिषदों में ही बहुत है। स्वयं भूमि पर, शिलातल पर अथवा चटाई पर बैठनेवाले मुनियों के पास आनेवाले को गद्दी-मसनद (गाव-तकिया) या मृदुल मखमली-गलीचों की अपेक्षा नहीं होती। वह तो मुनिचरणों में उपासीन होकर, त्यागी के चरणों की धूलि ललाट पर लिम्पन कर प्रसन्न होता है। उसके लिए सम्भ्रम के उपकरण प्रस्तुत कर उसके आगमन को अतिरंजित बनाना वीतरागमुनिचर्या से विपरीत है। श्रमणों के आराध्य-भगवान् के लिए तो स्तुति के छन्द लिखते समय 'इन्द्रः सेवां तव सुतनुतां' कहा गया है। विगौरव का दोष जानबूझकर नहीं लेना ही श्रेष्ठ है। इस विषय में सिकन्दर और दिगम्बर मुनि के साक्षात्कार का एक प्रसंग इतिहासप्रसिद्ध है।

त्यागी को उस आरण्यक नदी के समान होना चाहिए, जिसके तट पर हाथी पानी पीने आए, तो वह हर्षित होकर किनारों पर उच्चलित नहीं होती और हरिण आए, तो मन छोटा नहीं करती। उसके दो पाटों की अंजलि का नीर सबके लिए समान सुलभ है। मुनि-त्यागी का स्थान सम्राटों से भी ऊपर है। सम्राट् भी त्यागी के आशीर्वाद की अपेक्षा करता है और उससे ऐश्वर्य, विभूति, कृपाप्रसाद चाहता है। किन्तु मुनि निरपेक्ष है। यदि संसार आशा का दास है, तो त्यागी ने आशा को दासी बना लिया है। वे मुनि मनुष्यपर्यायी होते हुए भी मनुष्यकोटि से ऊपर हैं। चिन्ता को वशीभूत करने से उन्हें सिद्ध (तपस्वी) कहा जाता है। 'जे नर चिन्ता बस करहिं, ते माणस नहि सिद्ध' — ऐसा कहते हुए उनका स्तवन किया गया है और इतने पर भी वे केवल 'बाह्यग्रन्थिविहीनाः' ही हों, तो क्या कहा जा सकता है? वह तो अंगार में विद्रुम का भ्रम ही कहा जा सकता है।

प्रस्तुत निबन्ध 'पिच्छि और कमण्डलु' मुनियों के द्वारा धारणीय शौच-संयमोपकरण-विषयक है और ज्ञानोपकरण के रूप में शास्त्र रखने का, स्वाध्याय तत्पर रहने का आदेश शास्त्रों में दिया गया है, अतः लेख-समाप्ति से पूर्व यह आवश्यक है कि 'मूलाराधना' की उन पक्तियों को स्मरण कर लिया जाए, जिनमें शिक्षा (स्वाध्याय) का आग्रह करते हुए आचार्य ने कहा है कि—'प्राण जब कण्ठगत हों, तब भी मुनि, तपस्वी को प्रयत्नपूर्वक आगमस्वाध्याय करना चाहिए।' आचार्य श्रीकुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है—'आगमचक्रू साहू' और 'अज्ज्ञयणमेव ज्ञाणं' —साधु की आँखें उसका शास्त्र है। जहाँ उसे चर्या में संशयविकल्प हों, तो तत्काल शास्त्रों की शरण लेनी चाहिए। शास्त्र बतायेंगे कि वह क्या करे? क्या न करे? और त्याग का ध्यान उसका अध्ययन है। अध्ययन द्वारा ही वह सम्यक्त्व के विषय में जानकारी प्राप्त करता है। शास्त्रों की सीप से सम्यक्त्व के मुक्ताफल मिलते हैं। तन्मयता बढ़ती है और ज्ञानसम्पन्न होने से स्व-पर का बोध होता है। इसप्रकार ध्यान द्वारा जो परिणामविशुद्धि होती है, वही शास्त्रस्वाध्याय से सिद्ध होती है। यही सोचकर आचार्य कहते हैं—'अध्ययनम् एव ध्यानम्'; यहाँ 'एव' शब्द निश्चयपरक है। वास्तव में जिनसरस्वती के दर्शन करनेवालों ने तन्मय होकर अध्ययन में ही ध्यान तथा समाधि प्राप्त की है। जिन्होंने दुस्तर-संसारवारिधि को तैरकर पार जाने के लिए पिच्छि-कमण्डलु तथा शास्त्र तीन

उपकरण एवं सम्यक्त्वपूर्वक दर्शन-ज्ञानचारित्ररूप त्रिरत्नों को धारण कर लिया है, मानो उसने जन्म-पुनर्जन्म की गति रोकने के लिए वज्रमय तिहरी प्राकारभित्तियों का निर्माण कर लिया है। 'पिच्छि' शिवमार्ग की बुहारी है, 'कमण्डलु' सिंचन करनेवाला है और 'शास्त्र' शिवमार्ग की दिशाबोध की ध्रुवसूची (कम्पास) है। उस दुर्गम-पथ पर पहुँचनेवाला तो कर्मरजोविमुक्त आत्मा ही है, इति शुभम्। ❖❖

सन्दर्भ-अनुक्रमणिका

1. 'जो सवणो णहि पिच्छं गिण्हदि णिदेदि मूढचारित्तो ।
जो सवण-संघवज्जो अवंदणिज्जो सदा होदि ।।' —(भद्रबाहु क्रियासार, 79)
2. 'अवधेः प्राक् प्रगृह्णन्ति मृदुपिच्छं यथागतम् ।
यत् स्वयंपतितं भूमौ प्रतिलेखनशुद्धये ।।' —(भावसंग्रह, 276)
3. 'मत्तेति कार्तिके मासे कार्यं सत्प्रतिलेखनम् ।
स्वयंपतितपिच्छानां लिंगं चिह्नं च योगिनाम् ।।' —(मूलाचार)
4. 'पंचसय-पिच्छहत्थो अह चतु-तिग-दोणिहत्थो ।
संघवइहु सीसो अज्जा पुणु होदि पिच्छकरा ।।' —(भद्रबाहुक्रियासार)
5. 'योगी दिगम्बरो मुण्डो बर्हिपिच्छधरो द्विजः' । —(पद्म०, 13/33)
'ततो दिगम्बरो मुण्डो बर्हिपिच्छधरो द्विजः' । —(विष्णु०, 3/18)
'मयूरचन्द्रिकापुंजपिच्छिकां धारयन् करे' । —(शिवपु०, 10/80/80)
6. 'पश्वर्धशय्याऽनम्य सपिच्छाञ्जलिभालकः' । —(आचारसार, 61)
7. विगौरवादिदोषेण सपिच्छाञ्जलिशालिना ।
सदब्जसर्वाचार्येण कर्तव्यं प्रतिवन्दनम् ।।' —(आचारसार, 62)
8. पिच्छं कमण्डलुं वामहस्ते स्कन्धे तु दक्षिणम् ।
हस्तं निधाय संदृष्ट्या स व्रजेत् श्रावकालयम् ।।' —(धर्मरसिक)
9. 'सन्ति मयूरपिच्छेऽत्र प्रतिलेखनमूर्जितम् ।
तं प्रशंसन्ति तीर्थेशा दयायै योगिनां परम् ।।' —(मूलाचार, 32)
10. 'छत्रार्थं चामरार्थं च रक्षार्थं सर्वदेहिनाम् ।
यंत्रमंत्रप्रसिद्ध्यर्थं पंचैते पिच्छलक्षणम् ।।' —(मंत्रलक्षणशास्त्र)
11. 'रजसेदानमगहणं मद्दवसुकुमालदा लघुत्वं च ।
जत्थेदे पंचगुणा तं पडिलिहणं पसंसति ।।' —(मूलाराधना, 98)
12. 'अथ पिच्छिकागुणा रजःस्वेदाग्रहणद्वयम् ।
'मार्दवं सुकुमारत्वं लघुत्वं सदगुणा इमे ।।
पंच ज्ञेयास्तथा ज्ञेया निर्भयादिगुणोत्तमाः ।
मयूरपिच्छजातायाः पिच्छिकाया जिनोदिताः ।।' —(सकलकीर्तिधर्मप्रश्नोत्तर, 29-30)
13. पिच्छेन मृदुनाऽलिख्य वपुर्धर्माद् विशेषेण मुनिः ।
छायां तथैव धर्मं च भूमिभेदेऽपि चान्वहम् ।।' —(नीतिसार, 43)

14. 'सप्रतिलेखनमुकुलितवत्सोत्संगितकरः सपर्यकः ।
क्युदिकाग्रमनः स्वाध्यायं वन्दनां पुनरशक्त्या ।।' —(चारित्रसार, 43)
15. 'अप्पडिलिहणं वसनसहितलिंगधारिणो हि वस्त्रखण्डादिकं शोधनीयं महत् । इतरस्य
पिच्छादिमात्रम् ।।' —(मूलाराधना)
16. 'प्रमत्तयोगतो यत् स्याददत्तादानमात्मनः । स्तेयं तत् सूत्रितं दानादानयोग्यार्थगोचरम् ।।
तेन सामान्यतोऽदत्तादानस्य सन्मुनेः । सरिन्निर्झरणाद्यम्भः शुष्कगोमयखण्डकम् ।।
भस्मादि वा स्वयं मुक्तं पिच्छालाबुफलादिकम् । प्रासुकं न भवेत् स्तेयं प्रमत्तत्वस्य हानितः ।।' —(तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, 7/15)
17. प्रासुकस्यार्थः — 'सुकं पक्वं तत्तं अम्मिललवणेण मिससयं दव्वं ।
जं जंतेण हि छिण्णं तं सव्वं पासुगं भणिदं ।।' —(गृहस्थधर्म, 11)
18. 'ठाणणिसिज्जागमणे जीवाणं हंति अप्पणो देहं ।
दसकत्त रिठाण गदं णिप्पिच्छे णत्थि णिव्वाणं ।।' —(भद्रबाहुक्रि०, 25)
19. 'अवधेः प्राक् प्रगृह्णन्ति मृदुपिच्छं यथागतम् ।
यत् स्वयं पतितं भूमौ प्रतिलेखनशुद्धये ।।' —(भावसंग्रह, 276)
20. 'पुस्तककमण्डलवादिग्रहणविसर्गयोः प्रयत्नपरिणामः ।
आदाननिक्षेपणसमितिर्भवतीति निर्दिष्टा ।।' (संस्कृत छाया नियमसार)
21. 'एकादशस्थाने उत्कृष्टश्रावको द्विविधः ।
वस्त्रैकधरः प्रथमः कौपीनपरिग्रहो द्वितीयः ।।
तपोव्रतनियमावश्यकलोचं करोति पिच्छं गृह्णाति ।
अनुप्रेक्षा धर्मध्यानं करपात्रे एकस्थाने ।।' —(आलोचना)
22. 'सप्तपादेषु निःपिच्छः कायोत्सर्गेण शुद्ध्यति ।
गव्यूतिगमने शुद्धिमुपवासं समश्नुते ।।' —(चारित्रसार, 44)
23. 'उच्छीर्षस्य विधानेऽपि प्रतिलेखस्य हृच्छदे ।
मस्तकावरणाद् देयं कल्याणं वा न दुष्यति ।।' —(प्रायश्चित्त, 75)
24. 'शश्वद् विशोधयेत् साधुः पक्षे-पक्षे कमण्डलुम् ।
तदशोधयतो देयं सोपस्थानोपवासनम् ।।' —(प्रा० समुच्चय, 88)
25. 'पिच्छेण हु सम्मत्तं करगहिणं चमरमोरडंबरम् ।
समभावे जिणदिट्ठं रायाई दोसचत्तेण ।।' —(7/7, गाथा 28)
26. 'चेल्ला चेल्ली पुत्थियहिं तूसइ मूढ णिभंतु ।
एयहिं लज्जइ णाणियउ बंधह हेउ मुणंतु ।।
चट्टहिं पट्टहिं कुंडियहिं चेल्लाचेल्लियराहिं ।
मोह जिणेविणु मुणिवरहं उप्पहि पाडियतेहिं ।।' —(परमात्मप्रकाश, 88-89)



भारतवर्ष का एक प्राचीन जैन-विश्वविद्यालय

—डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन

निर्गन्ध श्रमण-संस्कृति के इतिहास का प्रामाणिक ज्ञान न होने से न तो हमें अपने अतीत का गौरवबोध हो पाता है और न ही अपनी महती-परम्परा का वास्तविक-ज्ञान ही हो पाता है। स्वनामधन्य यशःकाय मनीषी डॉ० ज्योतिप्रसाद जी जैन ने इस गहन शोधपूर्ण आलेख में 'वाटग्राम' के जैन-विश्वविद्यालय, उसकी गौरवशाली-परम्परा तथा ज्ञान-विज्ञान-महासिन्धु महाज्ञानी आचार्य वीरसेनस्वामी के द्वारा उसका कुलपतित्व ग्रहण करने का जो उल्लेख इसमें है; इससे इसकी महत्ता का स्पष्टबोध हो जाता है। कदाचित् जैन-मनीषियों में आज ऐसे गंभीर इतिहास-अन्वेषक होते और ऐसे समर्पितभाव से कार्य करते, तो न जाने कितने अनजाने रहस्य आज प्रकट होते और निर्गन्ध श्रमण-संस्कृति की गरिमा प्रतिष्ठित होती।

साथ ही 'अनेकान्त' नामक शोधपत्रिका के वर्तमान कर्णधारों से भी निवेदन है कि वे निराधार पूर्वाग्रही आक्षेप-प्रत्याक्षेप की संकीर्णता से बचकर अपने प्राचीन अंकों में प्रकाशित ऐसी महत्त्वपूर्ण ज्ञान-सामग्री का क्रमशः पुनर्प्रकाशन भी करें, तो यह प्रतिष्ठित शोधपत्रिका पुनः अपने प्राचीन-गौरव को पाकर विद्वानों एवं जिज्ञासुओं में प्रतिष्ठित एवं स्पृहणीय बन जायेगी। तथा समाज में नये विवादों की जगह उपयोगी दिशाबोध मिल सकेंगे।

—सम्पादक

ईस्वी सन् की आठवीं शताब्दी में भारतवर्ष ने एकसाथ तीन साम्राज्यों का उदय देखा— दक्षिणापथ में 'राष्ट्रकूट', बिहार-बंगाल में 'पाल' और उत्तरापथ के मध्यप्रदेश (गंगा के दोआब) में 'गुर्जर-प्रतिहार'। लगभग दो शताब्दी-पर्यन्त इन तीनों ही साम्राज्यों में सम्पूर्ण भारतवर्ष के एकच्छत्र शासन के लिए परस्पर प्रबल-प्रतिद्वन्द्विता एवं होड़ रही, किन्तु उक्त उद्देश्य में तीनों में से एक भी सफल न हो सका। तीनों की ही साथ-साथ स्वतन्त्र-सत्ता बनी रही। इतना अवश्य है कि उन तीनों में विस्तार, शक्ति एवं समृद्धि की दृष्टि से राष्ट्रकूट-साम्राज्य ही संभवतया सर्वोपरि रहा। राष्ट्रकूटों का सम्बन्ध दक्षिणापथ के अशोककालीन प्राचीन 'रट्टिकों' के साथ जोड़ा जाता है, और यह अनुमान किया जाता है कि छठी-सातवीं शती में इनका मूल निवास-स्थान 'वराड' या 'वरट' (आधुनिक 'बरार' और प्राचीन 'विदर्भ') देश में स्थित 'लातूर' नामक स्थान था, जहाँ उस काल में वे पहले 'बनवासी' के कदम्बों के और तदनन्तर 'वातापी' के प्राचीन पश्चिमीय चालुक्य-नरेशों के अतिसामान्य

करद-सामन्तों के रूप में निवास करते थे। सातवीं शती के उत्तरार्ध में उन्होंने शक्ति-संबद्धन प्रारम्भ किया और आठवीं शती के द्वितीय-पाद के प्रारम्भ के लगभग राष्ट्रकूट-राजा 'दन्तिदुर्ग' एक शक्तिशाली राज्य की नींव डालने में सफल हुआ और आगामी 25-30 वर्षों में वह प्रायः सम्पूर्ण दक्षिणापथ का स्वामी बन बैठा। अवश्य ही उसने अपने पूर्व प्रभुओं, वातापी के चालुक्य-सम्राटों, की उत्तरोत्तर होने वाली अवनति का पूरा लाभ उठाया; अपितु उनके प्रभुत्व का अन्त करने में सक्रिय योग दिया और शनैः-शनैः उनके सम्पूर्ण साम्राज्य को हस्तगत कर लिया। तत्पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों—कृष्ण-प्रथम अकालवर्ष (756-772 ई०), गोविन्द-द्वितीय (772-779 ई०), ध्रुव-धारावर्ष-निरुपम श्रीवल्लभ (779-793 ई०) और गोविन्द-तृतीय जगतुंग प्रभूतवर्ष (793-814 ई०) ने अपनी सफल आक्रामक-नीति के फलस्वरूप दन्तिदुर्ग के उक्त राष्ट्रकूट-राज्य को एक भारी-साम्राज्य के रूप में परिणत कर दिया, जिसका कि विस्तार सुदूर-दक्षिण में 'केरल' और 'काँची'-पर्यन्त था और उत्तर में मालवा-पर्यन्त, उत्तर-पश्चिम दिशा में प्रायः सम्पूर्ण गुजरात और राजस्थान के कुछ भाग उसके अंग बन गये थे और पूर्व में 'वेगि' के पूर्वी-चालुक्य उसके करद-सामन्त बन गये थे। तदुपरान्त लगभग डेढ़ सौ वर्ष-पर्यन्त यह विशाल राष्ट्रकूट-साम्राज्य अपनी शक्ति, वैभव एवं समृद्धि की चरमावस्था का उपयोग करता हुआ प्रायः अक्षुण्ण बना रहा। दसवीं शती के तृतीय पाद के अन्त के लगभग वह अकस्मात् धराशायी हो गया।

अढ़ाई सौ वर्ष का यह काल दक्षिणापथ के इतिहास में 'राष्ट्रकूट-युग' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अपने समय के इस सर्वाधिक विस्तृत, वैभवशाली एवं शक्ति-सम्पन्न भारतीय-साम्राज्य के अधीश्वर इन राष्ट्रकूट-नरेशों की कीर्तिगाथा अरब-सौदागरों के द्वारा सुदूर मध्य-एशियाई देशों तक पहुँची थी, जहाँ वे 'बलहरा' (वल्लभराय) के नाम से प्रसिद्ध हुए। राष्ट्रकूटों की इस महती-सफलता का श्रेय जहाँ अनुकूल-परिस्थितियों, उनकी स्वयं की महत्वाकांक्षा, शौर्य और राजनीतिक-पटुता को है; वहाँ उसका एक प्रमुख-कारण उनकी सामान्य-नीति भी थी। वे सुसभ्य और सुसंस्कृत भी थे, साहित्य और कला के प्रश्रयदाता थे और सबसे बड़ी बात यह कि वे पूर्णतया सर्वधर्म-सहिष्णु थे। एलोरा के प्रख्यात गुहामन्दिरों का उत्खनन-कार्य कृष्ण-प्रथम के समय में प्रारम्भ हुआ, जिसमें शैव, जैन और बौद्ध—तीनों ही सम्प्रदायों ने योग दिया तथा उत्खनित-गुहा-स्थापत्य के अप्रतिम-उदाहरण प्रस्तुत किये। महानगरी मान्यखेट की नींव गोविन्द-तृतीय ने ही डाल दी थी और उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी सम्राट्-अमोघवर्ष प्रथम नृपतुंग-सर्ववर्म (815-877 ई०) ने उसका निर्माण करके और उसे अपनी राजधानी बनाकर उसे द्वितीय इन्द्रपुरी बना दिया था। साम्राज्य के विभिन्न भागों में जैनादि विभिन्न-धर्मों के अनेक सुन्दर देवालय तथा धार्मिक, सांस्कृतिक एवं शिक्षा-संस्थान स्थापित हुए। इन धर्मायतनों एवं संस्थानों के निर्माण एवं संरक्षण में स्वयं इन सम्राटों ने, इनके सामन्त सरदारों और राजकीय अधिकारियों ने तथा समृद्ध प्रजाजनों

ने उदार-अनुदान दिये। उस युग में पच्चीसियों उद्भट-विद्वानों ने प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और कन्नड़ की विविध-विषयक महत्त्वपूर्ण-कृतियों से भारती के भंडार की प्रभूत श्रीवृद्धि की। विभिन्न-धार्मिक सम्प्रदाय साम्राज्य में साथ-साथ फल-फूल रहे थे। उनके अनुयायी-विद्वानों में परस्पर मौखिक वाद-विवाद भी होते थे, बहुधा स्वयं सम्राट् की राजसभा में ही, और साहित्य द्वारा भी खंडन-मंडन होते थे, किन्तु ये वाद-विवाद और खंडन-मंडन बौद्धिक स्तर से नीचे नहीं उतरते थे, उनमें प्रायः कटुता नहीं होती थी और न विद्वेष या वैमनस्य भड़काते थे। धार्मिक-अत्याचार और बलात् धर्म-परिवर्तन उस युग में अज्ञात थे। सभी सम्प्रदाय लोकहित, जनजीवन के उत्थान और राष्ट्र के अभ्युदय में यथाशक्ति सक्रिय-सहयोग देते थे।

उपलब्ध प्रमाणाक्षरों से स्पष्ट है कि राष्ट्रकूट-साम्राज्य में जैनधर्म की स्थिति पर्याप्त स्पृहणीय थी। उसे राज्य एवं जनता, दोनों का ही प्रभूत प्रश्रय एवं समादर प्राप्त था। राष्ट्रकूट-इतिहास के विशेषज्ञ डॉ० अनन्त सदाशिव अलतेकर के अनुसार “उस काल में दक्षिणापथ की सम्पूर्ण जनसंख्या का ही कम से कम तृतीयांश जैन-धर्मावलम्बी था। इस धर्म के अनुयायियों में प्रायः सभी वर्णों, जातियों एवं वर्गों का प्रतिनिधित्व था— उनमें राज्यवंश के स्त्री-पुरुष भी थे, अनेक सामन्त-सरदार, सेनापति और दण्डनायक भी थे, ब्राह्मण, पंडित और व्यापारी एवं व्यवसायी भी थे, सैनिक और कृषक भी थे, शिल्पी, कर्मकार और दलित भी थे। जैनाचार्यों ने भी इस सुयोग का लाभ उठाकर स्वधर्म को राज्य एवं समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप ढालने में और उसे सचेतन एवं प्रगतिशील बनाने में कोई कसर नहीं उठा रखी। फलस्वरूप जनजीवन के अभ्युत्थान में वे प्रमुख भाग लेने में समर्थ हुए।” डॉ० अलतेकर के मतानुसार “सार्वजनिक-शिक्षा के क्षेत्र में तो उनका सक्रिय-योगदान सम्भवतः सर्वोपरि था, जिसका एक प्रमाण यह है कि आज भी दक्षिण-भारत में बालकों के शिक्षारम्भ के समय जब उन्हें वर्णमाला सिखाई जाती है, तो सर्वप्रथम उन्हें ‘ॐ नमः सिद्धेभ्यः’ नाम का मंगल-सूत्र रटाया जाता है, न कि ब्राह्मण-परम्परा का ‘श्री गणेशाय नमः’। ‘ॐ नमः सिद्धेभ्यः’ विशिष्टतया जैन-मन्त्र है, हिन्दू, बौद्ध आदि अन्य धर्मों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी आधार पर डॉ० चिन्तामणि विनायक वैद्य ने भी यह कथन किया है कि उस युग में सार्वजनिक-शिक्षा के क्षेत्र पर जैन-शिक्षकों ने ऐसा पूर्ण एवं व्यापक नियन्त्रण स्थापित कर लिया था कि जैनधर्म की अवनति के उपरान्त भी हिन्दूजन अपने बालकों का शिक्षारम्भ उसी जैन-मन्त्र से कराते रहे हैं। वस्तुतः उत्तर-भारत के अनेक-भागों की प्राचीन-पद्धति की प्राथमिक-पाठशालाओं (चटसालों आदि) में भी बालकों का शिक्षारम्भ उसी जैन-मन्त्र के विकृत-रूप ‘ओ-ना-मा-सीधम’ से होता आया है, जिसका अर्थ भी प्रायः न पढ़नेवाले ही समझते हैं और न पढ़ानेवाले ही। इसीप्रकार, जैन-व्याकरण ‘कातन्त्र’ का मंगल-सूत्र स्वयं ‘सिद्धो वर्णसामान्यायः’ भी अपने विकृतरूप ‘सरदा वरना

सवा मनाया' में आज भी पाठशालाओं में प्रचलित पाया जाता है ।

अतएव इस विषय में सन्देह नहीं है कि उस काल में उस प्रदेश में ऐसे अनगिनत जैन-संस्थान थे जो शिक्षा-केन्द्रों के रूप में चल रहे थे और उनके कोई-कोई तो ऐसे विशाल विद्यापीठ या ज्ञानकेन्द्र थे, जिनसे ज्ञान की किरणें चतुर्दिक् प्रसरित होती थीं ।

प्रायः प्रत्येक वसति (जिनमंदिर) से सम्बद्ध जो पाठशाला होती थी, उसमें धार्मिक एवं संतोषी-वृत्ति के जैन-गृहस्थ शिक्षा देते थे, जिनमें बहुधा गृह-सेवी या गृह-त्यागी ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणियाँ आदि भी होते थे । भुल्लक, ऐलक और निर्ग्रन्थ-मुनि भी जब-जब अपने विहार-काल में वहाँ निवास करते, विशेषकर वर्षावास या चातुर्मास-काल में; तो वे भी इस शिक्षण में योग देते थे । किन्तु जो विशाल ज्ञानपीठ होते थे, उनका नियन्त्रण एवं संचालन दिग्गज निर्ग्रन्थाचार्य ही करते थे और वहाँ अपने गुरु-बन्धुओं, शिष्यों-प्रशिष्यों के वृहत् परिवार के साथ ज्ञानाराधना करते थे । अपनी चर्चा के नियमानुसार ये निष्परिग्रही तपस्वी दिग्म्बर-मुनिजन समय-समय पर यत्र-तत्र अल्पाधिक विहार भी करते रहते थे, किन्तु स्थायी-निवास उनका प्रायः वही स्थान होता था । इन विद्यापीठों में साहित्य-साधना के अतिरिक्त तात्त्विक, दार्शनिक एवं धार्मिक ही नहीं, लौकिक-विषयों, यहाँ तक कि राजनीति का भी शिक्षण दिया जाता था । साधुओं के अतिरिक्त विशेष-ज्ञान के अर्थी गृहस्थ-छात्र, जिनमें बहुधा राजपुरुष भी होते थे, इस शिक्षण का लाभ उठाते थे । इन केन्द्रों में निःशुल्क-आवास एवं भोजन और सार्वजनिक-चिकित्सा की भी बहुधा व्यवस्था रहती थी ।

राष्ट्रकूट-काल और साम्राज्य के प्रमुख-ज्ञानपीठों में संभवतया सर्वमहान् 'वाटग्राम' का ज्ञानकेन्द्र था । 'वराड प्रदेश' (बरार) में तत्कालीन नासिक-देश (प्रान्त) के 'वाटनगर' नामक विषय (जिले) का मुख्य-स्थान यह वाटग्राम, वाटग्रामपुर या वाटनगर था, जिसकी पहचान वर्तमान महाराष्ट्र राज्य के नासिक जिले के 'डिंडोरी' तालुके में स्थित 'वानी' नामक ग्राम से की गई है । नासिक नगर से पाँच मील उत्तर की ओर 'सतमाला' अपरनाम 'चन्दोर' नाम की पहाड़ीमाला है, जिसकी एक पहाड़ी पर 'चाम्भार-लेण' नाम से प्रसिद्ध एक प्राचीन उत्खनित जैन-गुफा-श्रेणी है । यह अनुमान किया जाता है कि प्राचीनकाल में ये गुफायें जैन-मुनियों के निवास के उपयोग में आती थीं । इस पहाड़ी के उस पार ही 'वानी' नाम का गाँव बसा हुआ है, जहाँ कि उक्त काल में उपरोक्त 'वाटनगर' बसा हुआ था । बहुसंख्यक गुफाओं के इस सिलसिले को देखकर यह सहज ही अनुमान होता है कि यहाँ किसी समय एक महान् जैन-संस्थान रहा होगा । वस्तुतः राष्ट्रकूट-युग में रहा ही था । उस समय इस संस्थान के केन्द्रीय-भाग में अष्टम-तीर्थंकर चन्द्रप्रभु का एक मनोरम-चैत्यालय भी स्थित था, जिसके सम्बन्ध में उस काल में भी यह किंवदन्ती प्रचलित थी कि 'वह आणतेन्द्र द्वारा निर्मापित है ।' यह पुनीत-चैत्यालय ही संभवतया संस्थान के कुलपति का आवास-स्थल था ।

‘वाटनगर’ के इस ज्ञानपीठ की स्थापना का श्रेय संभवतया ‘पञ्चस्तूप-निकाय’ (जो कालान्तर में ‘सेनसंघ’ के नाम से प्रसिद्ध हुआ) के दिगम्बराचार्यों को ही है। ईस्वी सन् के प्रारम्भ के आसपास हस्तिनापुर, मथुरा अथवा किसी अन्य स्थान के प्राचीन पाँच जैन-स्तूपों से संबंधित होने के कारण मुनियों की यह शाखा ‘पञ्चस्तूपान्वय’ कहलाई। पाँचवीं शती ई० में इसी स्तूपान्वय के एक प्रसिद्ध आचार्य गुहनन्दि ने वाराणसी से बंगाल-देशस्थ ‘पहाड़पुर’ की ओर विहार किया था, जहाँ उनके शिष्य-प्रशिष्यों ने ‘बटगोहाली’ का प्रसिद्ध संस्थान स्थापित किया था। छठी शती में इसी अन्वय के एक आचार्य वृषभनन्दि की शिष्य-परम्परा में सातवीं शती के उत्तरार्ध में संभवतया श्रीसेन नाम के एक आचार्य हुए और संभवतया इन श्रीसेन के शिष्य चन्द्रसेनाचार्य थे, जिन्होंने आठवीं शती ई० के प्रथम पाद के लगभग राष्ट्रकूटों के सम्भावित उत्कर्ष को लक्ष्य करके वाटनगर की बस्ती के बाहर स्थित ‘चंदोर पर्वतमाला’ की इन चाम्भार-लेणों में उपरोक्त ज्ञानपीठ की स्थापना की थी। सम्पूर्ण नासिक्य-क्षेत्र तीर्थकर-चन्द्रप्रभु से संबंधित तीर्थक्षेत्र माना जाता था और इस स्थान में तो स्वयं धवलवर्ण चन्द्रप्रभु का तथाकथित आणतेन्द्र-निर्मित धवल-भवन विद्यमान था। ‘गजपन्था’ और ‘मांगी-तुंगी’ के प्रसिद्ध प्राचीन जैनतीर्थ भी निकट थे, ‘एलाउर’ या ‘ऐलपुर’ (एलौरा) का शैव-संस्थान और ‘कन्हेरी’ का बौद्ध-संस्थान भी दूर नहीं। राष्ट्रकूटों की प्रधान सैनिक-छावनी भी कुछ हटकर उसी प्रदेश के ‘मयूरखंडी’ नामक दुर्ग में थी और तत्कालीन राजधानी ‘सूलुभंजन’ (सोरभंज) भी नातिदूर थी। इसप्रकार यह स्थान निर्जन और प्राकृतिक भी था, प्राचीन पवित्र-परम्पराओं से युक्त था, राजधानी आदि के झमेले से दूर भी, किन्तु शान्ति और सुरक्षा की दृष्टि से उसके प्रभावक्षेत्र में ही था। अच्छी बस्ती के नैकट्य से प्राप्त-सुविधाओं का भी लाभ था और उसके शोरगुल से असम्पृक्त भी रह सकता था। एक महत्त्वपूर्ण ज्ञानकेन्द्र के लिए यह आदर्श-स्थिति थी। चन्द्रसेनाचार्य के पश्चात् उनके प्रधान-शिष्य आर्यनन्दि ने संस्थान को विकसित किया। संभवतया इन दोनों ही गुरु-शिष्यों की यह आकांक्षा थी कि यह संस्थान एक विशाल ज्ञानकेन्द्र बने और इसमें ‘षट्खंडागम’ आदि आगमग्रन्थों पर विशेषरूप से कार्य किया जाये। संयोग से आर्यनन्दि को वीरसेन के रूप में ऐसे प्रतिभासम्पन्न सुयोग्य-शिष्य की प्राप्ति हुई, जिसके द्वारा उन्हें अपनी चिराभिलाषा फलवती होती दीख पड़ी। वीरसेन, जो सम्भवतया स्वयं राजकुलोत्पन्न थे और यह संभावना है कि राजस्थान के सुप्रसिद्ध चित्तौड़गढ़ के मोरी (मौर्य) राजा धवलपदेव के कनिष्ठ-पुत्र थे, गुरु की अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए सन्नद्ध हो गये। गुरु की प्रेरणा से वह आगमों के विशिष्ट-ज्ञानी एलाचार्य की सेवा में पहुँचे, जो उस समय चित्रकूटपुर (उपरोक्त चित्तौड़) में ही निवास करते थे, और उनके समीप उन्होंने ‘कम्मपयडिपाहुड’ आदि आगमों का गंभीर-अध्ययन किया। तदनन्तर वह अपने ‘वाटनगर’ के संस्थान में वापस आये और आठवीं शती ई० के मध्य के लगभग गुरु के निधनोपरान्त उक्त संस्थान

के अध्यक्ष या कुलपति बने और आगमों की अपनी विशाल टीकाओं के निर्माण-कार्य में एकनिष्ठ होकर जुट गये।

स्वामी वीरसेन को प्राकृत और संस्कृत उभय-भाषाओं पर पूर्ण-अधिकार था तथा सिद्धान्त, छन्द, व्याकरण, ज्योतिष और प्रमाण-शास्त्रों में वह परम-निष्णात थे। उनके शिष्य जिनसेन ने उनके लिए 'कवि-चक्रवर्ती' विशेषण भी प्रयुक्त किया है। वीरसेन अपने समय के सर्वोपरि 'पुस्तक-शिष्य' समझे जाते थे, जिसका अर्थ है कि उन्होंने उस समय उपलब्ध प्रायः समस्त साहित्य पढ़ डाला था। यह तथ्य उनकी कृतियों में उपलब्ध अनगिनत-संदर्भ-संकेतों एवं उद्धरणों से भी स्पष्ट है। इन आचार्यपुंगव ने जो विशाल साहित्य-सृजन किया, उसमें 'षट्खण्डागम' के प्रथम पाँच-खण्डों पर निर्मित 'धवला' नाम की 72000 श्लोक परिमाण महती टीका, छठे खण्ड 'महाबन्ध' का 30000 श्लोक-परिमाण सटिप्पण-सम्पादन 'महाधवल' के रूप में, कसाय-पाहुड की 'जयधवल' नाम्नी टीका का लगभग तृतीयांश जो लगभग 26500 श्लोक परिमाण है, 'सिद्ध-भूपद्धति' नाम का गणित-शास्त्र तथा दूसरी शती ई० के यतिवृषभाचार्यकृत 'तिलोयपण्णत्ति' का किसी जीर्ण-शीर्ण प्राचीन-प्रति पर से उद्धार करके बनाया उसका अन्तिम संस्करण तो है ही, अन्य कोई रचना भी रही हो, तो इसका अभी पता नहीं चला। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने अपने संस्थान में एक अत्यन्त समृद्ध ग्रन्थ-भंडार संग्रह किया होगा। लेखन के लिए टनों ताड़पत्र तथा अन्य लेखन-सामग्री की आवश्यकता-पूर्ति के लिए भी वहाँ इन वस्तुओं का एक अच्छा बड़ा कारखाना होगा। अपने कार्य में तथा संस्थान की अन्य गतिविधियों में योग देनेवाले उनके दर्जनों सहायक और सहयोगी भी होंगे। उनके सधर्मा के रूप में जयसेन का और प्रमुख-शिष्यों के रूप में दशरथ गुरु, श्रीपाल, विनयसेन, पद्मसेन, देवसेन और जिनसेन के नाम तो प्राप्त होते ही हैं। अन्य समकालीन विद्वानों में उनके दीक्षागुरु आर्यनन्दि और विद्यागुरु एलाचार्य के अतिरिक्त दक्षिणापथ में गंगनरेश श्रीपुरुष मुन्तरस शत्रुभयंकर (726-776 ई०) द्वारा समादृत था। निर्गुंडराज के राजनीति-विद्यागुरु विमलचन्द्र, राष्ट्रकूट-कृष्ण-प्रथम की सभा में वाद-विजय करनेवाले परवादिमल्ल अकलंकदेव के प्रथम टीकाकार अनन्तवीर्य-प्रथम, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अष्टसहस्री आदि के कर्ता स्वामी विद्यानन्दि, हरिवंशपुराणकार जिनसेनसूरि, रामायण आदि के रचयिता अपभ्रंश के महाकवि स्वयंभू आदि उल्लेखनीय हैं। चित्तौड़-निवासी महान् श्वेताम्बर आचार्य याकिनीसूनु हरिभद्रसूरि भी इनके समकालीन थे। भट्टाकलंकदेव को अपनी बाल्यावस्था में स्वामी वीरसेन ने देखा-सुना हो सकता है, उनका स्मरण वीरसेन 'पूज्यपाद' नाम से करते थे। स्वामी वीरसेन ने 'धवला' टीका की समाप्ति सन् 781 ई० (विक्रम सं० 838) में की थी और 793 ई० के लगभग उनका स्वर्गवास हो गया प्रतीत होता है। इसमें संदेह नहीं है कि 'वाटनगर' में ज्ञानकेन्द्र को स्वामी वीरसेन ने उन्नति के चरम-शिखर पर पहुँचा दिया था।

उनके पश्चात् संस्थान का कार्यभार उनके प्रिय-शिष्य जिनसेन-स्वामी ने संभाला। यह अविद्धकर्ण बाल-तपस्वी भी अद्भुत प्रतिभा-सम्पन्न थे। 'पाश्वाभ्युदय' काव्य उनके काव्य-कौशल का उत्तम-परिचायक है। सन् 837 ई० (शक सं० 759) में उन्होंने गुरु द्वारा अधूरे छोड़े कार्य—'जयधवल' के शेषांश को लगभग 40000 श्लोक-परिमाण पूर्ण किया। इस महाग्रन्थ का सम्पादन उनके ज्येष्ठ सधर्मा श्रीपाल ने किया था। ऐसा लगता है कि तदनन्तर जिनसेन ने 'महापुराण' की रचना प्रारंभ की; किन्तु वह उसके आद्य 10380 श्लोक ही रच पाये और उनमें प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ का चरित्र भी पूरा न कर पाये कि 850 ई० से कुछ पूर्व ही उनका निधन हो गया। राष्ट्रकूट-सम्राट् अमोघवर्ष-प्रथम नृपतुंग (815-877 ई०) उन्हें अपना गुरु मानता था और यदा-कदा राज्यकार्य से विराम लेकर उनके तपोवन में आकर उनके सान्निध्य में समय व्यतीत करता था। वह स्वयं भी अच्छा विद्वान् और कवि था। स्वामी जिनसेन के समकालीन विद्वानों में उनके गुरु एवं सधर्माओं के अतिरिक्त हरिवंशपुराणकार जिनसेनसूरि, स्वामि विद्यानन्द, अनन्तवीर्य द्वितीय, अर्ककीर्ति, विजयकीर्ति, स्वयंभूपुत्र कवि त्रिभुवनस्वयंभू, शिवकोटखाचार्य, वैद्यक-शास्त्र कल्याणकारक के रचियता उग्रादित्य, गणितसारसंग्रह के कर्ता महावीराचार्य और वैयाकरण शाकटायन पाल्यकीर्ति उल्लेखनीय हैं। इनमें से कम से कम अन्तिम तीन को भी सम्राट् अमोघवर्ष का प्रश्रय प्राप्त हुआ था।

स्वामी जिनसेन के प्रधान-शिष्य आचार्य गुणभद्र थे, जिन्होंने गुरु के अधूरे छोड़े 'आदिपुराण' को संक्षेप में पूरा किया तथा 'उत्तरपुराण' के रूप में अन्य तेईस तीर्थंकरों का चरित्र निबद्ध किया। उन्होंने 'आत्मानुशासन' और 'जिनदत्तचरित्र' की भी रचना की। कहा जाता है कि सम्राट् अमोघवर्ष ने अपने युवराज कृष्ण-द्वितीय का गुरु उन्हें नियुक्त किया था। गुणभद्राचार्य का निधन कृष्ण-द्वितीय के राज्यकाल (878-914 ई०) के प्रारम्भ में लगभग 880 ई० में हो गया लगता है। उनके समय तक इस परम्परा के गुरुओं का ही वाटग्राम के केन्द्र से सीधा एवं प्रधान-सम्बन्ध रहा और वह पूर्ववत् फलता-फूलता रहा; किन्तु गुणभद्र के प्रधान-शिष्य लोकसेन ने अमोघवर्ष के जैन-सेनापति बंकेयरस के पुत्र लोकादित्य के प्रश्रय में उसकी राजधानी 'बंकापुर' को अपना केन्द्र बना लिया प्रतीत होता है, जहाँ उसने 898 ई० में गुरु द्वारा रचित 'उत्तरपुराण' का 'ग्रन्थविमोचन-समारोह' किया था।

हाल में ही नासिक जिले के 'वजीरखेडा' ग्राम में प्राप्त दो ताम्रशासनों से पता चलता है कि कृष्ण-द्वितीय के पौत्र एवं उत्तराधिकारी राष्ट्रकूटवंशी राजा इन्द्र-तृतीय (914-922 ई०) ने अपने सिंहासनारोहण के उपलक्ष्य में, एक के द्वारा 'चन्दनापुर-पत्तन' (चन्द्र या चन्द्रपुर) की जैन-बसति की और दूसरे के द्वारा 'नेरपत्तन' (बडनगरपत्तन या वाटनगर) की जैन-बसति को भूमि आदि का दान दिया था। ये दान द्रविडसंघ वीरगण की चीर्नयान्वय शाखा या विर्णयान्वय शाखा वर्धमान-गुरु के शिष्य लोकभद्र को समर्पित किये गये, ऐसा लगता

है कि इस काल में इस प्रदेश में सेनगण के गुरुओं का अभाव और द्रविडसंघ का प्राबल्य हो गया था। गुणभद्र या लोकसेन के वर्धमान गुरु नामक किसी शिष्य द्रविडसंघ से अपना सम्बन्ध जोड़ लिया हो और अपने परम्परा-गुरु वीरसेन के नाम पर 'वीरगण' स्थापना करके इस संस्थान का अधिकार अपने हाथ में लिया हो। 'वजीरखेडा' का प्राचीन नाम भी 'वीरखेड' या 'वीरग्राम' रहा बताया जाता है, 'वडनगरपत्तन' तो 'वाटग्राम' से अभिन्न ही प्रतीत होता है, 'चन्द्रपुर' या 'चन्द्रपुर ग्राम' की कोई नवीन बस्ती पूर्वोक्त चन्द्रप्रभु-चैत्यालय के इर्द-गिर्द विकसित हो गई हो सकती है।

यों इस महान् धर्मकेन्द्र की प्रसिद्धि, संभवतया उन देवायतनों आदि तथा कतिपय संस्थाओं की विद्यमान भी, कम से कम अगले सौ-डेढ़ सौ वर्ष-पर्यन्त बनी रही। सन् 1043 ई० (वि०सं० 1100) में धारानगरी प्रसिद्ध महाराज भोज (1006-1050 ई०) के समय अपना अपभ्रंश 'सुदर्शनचरित' पूर्ण करनेवाले आचार्य नंदि ने अपने 'सकल विधि-विधान काव्य' में एक स्थान पर लिखा है कि "उत्तम एवं प्रसिद्ध वराड देश के अन्तर्गत कीर्ति लक्ष्मी सरस्वती (के संयोग) से मनोहर वाटग्राम के महान् महल शिखर (उत्तुंग भवन) में आठवें जिनेन्द्र चन्द्रप्रभु विराजते थे, वीरसेन-जिनसेन देव 'धवल, जयधवल और महाबन्ध' नाम के तीन शिव (मोक्षमार्गी) सिद्धान्त-ग्रन्थों की रचना भव्यजनों के लिए सुखदायी की थी। वहीं सिद्धिरमणी के हार पुंडरीक कवि धनंजय हुये थे और स्वयंभु (कवि) ने भुवन को रंजयमान किया था।" इस उल्लेख से प्रतीत होता है कि नयनंदि ने स्वयं इस साहित्यिक-तीर्थ की यात्रा की थी और उसकी स्तुति में उपरोक्त-वाक्य लिखे थे। हमारी इस धारणा की पुष्टि भी इस कथन से हो जाती है कि महाकवि स्वयंभु, जो वीरसेन के समकालीन तो थे ही और उन्हीं की भाँति राष्ट्रकूट सम्राट् ध्रुव धारावर्ष से सम्मान प्राप्त थे, स्वयं वीरसेन के गृहस्थ-शिष्य एवं साहित्यिक-कार्य के सहयोग रहे थे। यह धनञ्जय भी, संभव है जिनका अपरनाम पुंडरीक हो, भोजकालीन धनञ्जय (श्रुतकीर्ति) के पूर्ववर्ती हैं और वीरसेन के ज्येष्ठ समकालीन रहे हो सकते हैं, क्योंकि उनकी 'नाममाला' के उद्धरण वीरसेन ने दिये हैं। अन्य भी अनेक न जाने कितने विद्वानों का, जिनका नाम ऊपर लिया जा चुका है अथवा नहीं भी लिया गया, 'वाटनगर' के इस संस्थान से प्रत्यक्ष या परोक्ष संबंध रहा, कहा नहीं जा सकता। वह अपनी उपलब्धियों एवं सक्षमताओं के कारण विद्वानों का आकर्षण-केन्द्र भी रहा होगा और प्रेरणा स्रोत भी। राष्ट्रकूट-युग के इस सर्वमहान् ज्ञानकेन्द्र एवं विद्यापीठ की स्मृति भी आज लुप्त हो गई है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि अपने समय में यह अपने समकालीन नालन्दा और विक्रमशिला के सुप्रसिद्ध बौद्ध-विद्यापीठों को समर्थ चुनौती देता होगा। भारत के प्राचीन विश्वविद्यालयों में तक्षशिला, विक्रमशील और नालन्दा की ही भाँति यह 'वाटग्राम-विश्वविद्यालय' भी परिगणनीय है।

—(साभार उद्धृत, 'अनेकान्त' साहू शान्तिप्रसाद जैन स्मृति-अंक)



भगवान् महावीर

—(स्व०) पं० बलभद्र जैन

महावीर की जन्म नगरी 'वैशाली'

वैशाली गणराज्य था, इसे 'वज्जिसंघ' अथवा 'लिच्छवी गणसंघ' कहा जाता था। इस संघ में विदेह का वज्जिसंघ और वैशाली का लिच्छवीसंघ सम्मिलित था। दोनों की पारस्परिक सन्धि के कारण विदेह के गणप्रमुख चेटक को इस संघ का गणप्रमुख चुना गया और इस संघ की राजधानी 'वैशाली' बनी। इस संघ में आठ कुलों के नौ गण भागीदार थे। ये सभी लिच्छवी थे और इनमें ज्ञातृवंशी प्रमुख थे। इन आठ कुलों के नाम ये थे— भोगवंशी, इक्ष्वाकुवंशी, ज्ञातृवंशी, कौरववंशी, लिच्छवीवंशी, उग्रवंशी, विदेहकुल और वज्जिकुल (वृज कुल)। लिच्छवी होने के कारण ही ये अष्टकुल परस्पर संगठित रहे। इस संघ में शासन का अधिकार इन अष्टकुलों को प्राप्त था। शेष नागरिकों को शासन में भाग लेने का अधिकार नहीं था। लिच्छवीगण ही अपने सदस्यों को चुनता था। चुने हुए प्रत्येक सदस्य को राजा कहा जाता था। ऐसे राजाओं की कुल संख्या 7707 थी। जब नवीन राजा का चुनाव होता था, उस समय उस राजा का अभिषेक एक पुष्करिणी में समारोहपूर्वक किया जाता था, जिसे 'अभिषेक' या 'मंगल पुष्करिणी' कहते थे। इसमें लिच्छवियों के अतिरिक्त अन्य किसी को स्नान मज्जन करने का अधिकार नहीं था। इसके ऊपर लोहे की जाली रहती थी और सशस्त्र प्रहरी पहरा देते थे।

वैशाली के तीन भाग थे— वैशाली, कुण्डग्राम और वाणिज्यग्राम। ये क्रमशः दक्षिणपूर्व, उत्तरपूर्व या पश्चिम में स्थित थे। कुण्डग्राम या कुण्डपुर के दो भाग थे— क्षत्रिय-कुण्डपुर-सन्निवेश, ब्राह्मण-कुण्डपुर-सन्निवेश। पहले में प्रायः ज्ञातृवंशी क्षत्रिय और दूसरे में ब्राह्मण रहते थे। वाणिज्य-ग्राम में प्रायः बनिये रहते थे।

लिच्छवी-संघ में सभी निर्णय सर्वसम्मत होते थे। यदि कभी मतभेद होता था, तो उसका निर्णय छन्द (वोट) द्वारा होता था। वज्जि-संघ के निकट ही मल्ल-गणसंघ और काशी-कोल-गणसंघ थे।

वज्जिसंघ के साथ इन दोनों गणसंघों की संधि थी। किसी संघ पर आक्रमण होने पर तीनों संघों की सन्निपात-भेरी की सम्मिलित बैठक होती थी। उसमें महासेनापति का

निर्वाचन होता था, जो अपनी युद्ध-उद्वाहिका चुनता था।

वैशाली का वैभव अपार था। उसमें 7777 प्रासाद, 7777 कूटागार, 7777 आराम और 7777 पुष्करिणियाँ थीं। उसमें 7000 सोने के कलशवाले, 14000 चाँदी के कलशवाले और 21000 ताँबे के कलशवाले महल थे। वैशाली के लिच्छवी स्वातन्त्र्यप्रिय और मौजी स्वभाव के थे। उनमें परस्पर में बड़ा प्रेम था। यदि कोई लिच्छवी बीमार पड़ जाता था, तो अन्य सभी लिच्छवी उसे देखने आते थे। उत्सव और रंगीन वस्त्र पहनने का उन्हें बड़ा शौक था। एक बार भगवान् बुद्ध ने आनन्द से कहा था—“आनन्द ! जिन्होंने त्रायस्त्रिंश स्वर्ग के देव नहीं देखे हैं, वे वैशाली के इन लिच्छवियों को देख लें।”

भगवान् का नामकरण

जब भगवान् का जन्म हुआ, तबसे माता-पिता के श्री, विभूति, प्रभाव, धन-धान्य और समृद्धि आदि सभी में वृद्धि होने लगी थी। इसीलिए उन्होंने बालक का नाम 'वर्धमान' रखा। एक दिन बाल भगवान् रत्नजड़ित पालने में झूल रहे थे, तभी वहाँ 'संजय' और 'विजय' नामक दो चारण-ऋद्धिधारी मुनि पधारे। उन्हें सिद्धान्त-सम्बन्धी कुछ शंका थी। बाल भगवान् को देखते ही उनका सन्देह दूर हो गया। तब उन्होंने भक्तिवश बालक का नाम 'सन्मति' रखा।

एक दिन बाल-भगवान् अपने बाल-सखाओं के साथ प्रमाद-वन में आमली-क्रीड़ा का खेल, खेल रहे थे। यह खेल देहातों में अब भी खेला जाता है। इनमें एक वृक्ष को केन्द्र बनाकर एक निश्चित-स्थान से सब बालक वृक्ष की ओर दौड़ते हैं। जो बालक सबसे पहले वृक्ष पर चढ़कर नीचे उतर आता है, वह शेष बालकों के कन्धे पर क्रम से चढ़कर मैदान का चक्कर लगाता है। 'संगम' नामक एक देव भयानक नाग का रूप धारण करके वर्धमान कुमार के बल-विक्रम की परीक्षा लेने वहाँ आ पहुँचा। उस नाग ने वृक्ष के मूल से स्कन्ध तक सारे भाग को लिपट कर अपने घेरे में ले लिया और फण फैलाकर फुँकार मारने लगा। सारे बालक भयभीत होकर भाग गये, किन्तु वर्धमान के मन में आतंक या भय नाममात्र को भी नहीं था। वे निर्भय होकर सर्प-फन पर खड़े होकर क्रीड़ा करने लगे। देव ने अपनी पराजय स्वीकार ली। पराजित होकर देव ने अजमुख-मानव का रूप धारण करके एक कन्धे पर वर्धमान कुमार को और दूसरे कन्धे पर उनके एक सखा पक्षधर को बैठा लिया तथा दूसरे बालसखा की अँगुली पकड़कर उन्हें घर तक पहुँचा दिया। उसने भक्तिपूर्वक वर्धमान कुमार की स्तुति करते हुए कहा—“भगवान् ! आपका बल-विक्रम अतुलनीय है। आप संसार में अजेय हैं। वास्तव में आप महावीर हैं।” तब से भगवान् का महावीर नाम संसार में प्रसिद्ध हो गया।

अजमुख देव का नाम पुरातत्त्ववेत्ता हरिनैगमेश बताते हैं। हरिनैगमेश द्वारा वर्धमान कुमार और उनके एक सखा पक्षधर को कन्धे पर बैठाने और दूसरे सखा काकधर की उंगली

पकड़ने का दृश्य कुषाणकालीन एक शिला-फलक पर अंकित है, जो मथुरा-म्जूजियम में सुरक्षित है।

इसीप्रकार की घटनाओं के कारण उन्हें लोग 'वीर' और 'अतिवीर' के नाम से पुकारने लगे। इसप्रकार संसार में उनके पाँच नाम प्रचलित हो गये।

संसार से वैराग्य और दीक्षा

यों ही उनका शैशव बीता और यौवन आया। यौवन आया, किन्तु यौवन की रंगीनियाँ नहीं आई, यौवन की मादकता नहीं आई। वे राजपुत्र थे। राजसी वैभव और गणतंत्र की सत्ता उनकी प्रतीक्षा में खड़े-खड़े कुम्हला रही थी। उनके सारे कर्म निष्काम थे। वे चिन्तनशील अनासक्त योगी थे। तीर्थंकर संसार के जीवों को कल्याण की शिक्षा देने के लिए ही उत्पन्न होते हैं। वे 'जगद्गुरु' कहलाते हैं। उन्हें कोई अक्षरज्ञान दे सके, ऐसा कोई गुरु नहीं होता। सारा संसार और उसका स्वभाव ही उनकी पुस्तक होता है। उस पर ही वे निरन्तर गहन चिन्तन करते हैं और उसका सारतत्त्व निकालकर अमृतत्व की ओर बढ़ते रहते हैं।

जब उनका आत्म-चिन्तन अपने अंतिम-बिन्दु (Climax) पर पहुँचा, तो उन्होंने संसार से विरक्त होकर दीक्षा लेने का निर्णय कर लिया। वे किसी अंधेरी रात में किसी से कहे सुने बिना चुपचाप जंगल की ओर नहीं चल दिये, बल्कि उन्होंने अपने माता-पिता और परिजनों को अपने निर्णय की सूचना दी, उनसे अनुमति ली और परिजनों के साथ 'ज्ञातृखण्ड वन' में जाकर, जो क्षत्रियकुण्डपुर के पूर्वोत्तर-भाग में ज्ञातृवंशी-क्षत्रियों का उद्यान था, नग्न दिगम्बर-मुद्रा धारण करके अन्य तीर्थंकरों के समान प्रव्रज्या ले ली और आत्मध्यान में अवस्थित हो गये।

महावीर की साधना

वे कभी इन्द्रियों के निर्देश पर नहीं चले, मन की वासना के वश में कभी नहीं हो पाये। इन्द्रियों और मन का उन्होंने कठोरता से नियमन किया। एक बार तो वे अनार्य लोगों के लाढ़ देश में जा पहुँचे। अनार्यों ने उनके साथ बड़ा अभद्र व्यवहार किया। तपस्या से दीप्त उनके बलिष्ठ और सुन्दर शरीर पर मुग्ध होकर अनेक ललनायें उनसे काम-याचना करती, अपनी प्रणय-निवेदन करतीं। कई लोग उन्हें पत्थर मारते और कई अर्घ्य लेकर उनकी पूजा करते, किन्तु वे दोनों के प्रति समदृष्टि थे। उन्हें न राग था, न द्वेष। उज्जयिनी में उनके ऊपर श्मशान में 'स्थाणु' नामक 'रुद्र' ने घोर उपसर्ग किया, किन्तु वे अविचल बने रहे।

वे बारह वर्ष तक नितान्त मौन रहे, किन्तु उनके इस मौन में ही सत्य का भण्डार भरा पड़ा था, उससे ही लोक मानव में व्याप्त असत्य के प्रति आग्रह और अविवेकपूर्ण मूढ़ता के प्रति व्यामोह दूर होने लगा था। उनके आक्रोशहीन-मौन और क्षमाशील-वृत्ति का जनसाधारण पर गहरा-प्रभाव पड़ा था।

चन्दनबाला का उद्धार

उस काल में भारत में दास-प्रथा का प्रचलन था। इधर-उधर से अपहृत सुन्दर-स्त्रियाँ चौराहों पर खड़ी करके बेची जाती थीं। सुदूर यवन-देशों में सुन्दरी यवनियाँ पोतों में भरकर 'भरुकच्छ' बन्दरगाह पर लाई जाती और यहाँ से वे श्रावस्ती, कौशाम्बी, वत्स, अवन्तिका आदि के बाजारों में बेच दी जाती। इसीप्रकार दासों का क्रय-विक्रय होता था। राजा और सम्पन्न-परिवार इन्हें खरीद लेते। स्त्रियाँ वासनापूर्ति का साधन बनतीं, उनसे और दासों से पशुओं के समान व्यवहार किया जाता था। यज्ञों में ये दास-दासियाँ ऋषियों को भेंटस्वरूप दी जाती थीं।

वैशाली के महाराज चेटक की सबसे छोटी पुत्री चन्दनबाला एक दिन अपने उद्यान में सखियों के साथ झूल रही थी। एक विद्याधर की उस पर दृष्टि पड़ी और वह बलपूर्वक उसे अपने विमान में ले उड़ा। इसके बाद वह कई हाथों में बिकी, किन्तु उसका शील अक्षुण्ण रहा। किसी को उसे धर्मच्युत करने का साहस नहीं हुआ। अन्त में वह कौशाम्बी के बाजार में बिकने के लिए लाई गई। तभी धर्मपरायण सेठ वृषभदत्त जिनालय से दर्शन-पूजन करके निकले। उनकी दृष्टि चन्दना पर पड़ी। देखते ही वे समझ गये कि यह कन्या किसी उच्च और सम्भ्रान्त-परिवार की है। दुर्दैव से यह इन नर-पिशाचों के हाथों में पड़ गई है। यह सोचकर कर्णवश उन्होंने व्यापारी से उसे खरीद लिया और अपने घर ले आये। घर आकर उन्होंने अपनी पत्नी सुभद्रा से कहा दुर्भाग्यवश हमारे कोई संतान नहीं थी, किन्तु भाग्य ने हमें यह सुलक्षणा-कन्या दे दी है। हम इसे बेटी मानकर रखेंगे। तुम इसका पूरा ध्यान रखना।

श्रेष्ठी चन्दना से पुत्रीवत् व्यवहार करते और उसकी सुख-सुविधा का पूरा ध्यान रखते, किन्तु संदेहशील सेठानी को श्रेष्ठी का यह व्यवहार कपट-व्यवहार लगता। उसे लगता कि श्रेष्ठी ने एक सँपोली मेरे सिर पर लाकर बैठा दी है, अतः वह चन्दना से मन ही मन कुठ्ठी रहती थी। तभी व्यापारिक-कार्यवश श्रेष्ठी को परदेश जाना पड़ा, किन्तु वे चलते-चलते भी सेठानी से अपनी धर्मपुत्री का ध्यान रखने को कह गये। श्रेष्ठी के जाते ही सेठानी ने अपनी सौतिया-डाह निकालना चालू कर दिया। उसने कैंची से चन्दना के केश काट दिये, जिससे वह विरूप हो जाये, लोहे की सांकल से उसके हाथ-पैर बाँध दिए, नीचे के अंधेरे-प्रकोष्ठ में उसे डलवा दिया। खाने के लिए मिट्टी के सकोरे में काँजी-मिश्रित कोदों का भात दे दिया।

तभी भगवान् महावीर 'वत्स देश' की राजधानी 'कौशाम्बी' में आहार के निमित्त पधारे। वे श्रेष्ठी के द्वार के सामने से निकले। भगवान् को चर्या के निमित्त आते देखकर चन्दना का रोम-रोम हर्ष और भक्ति से खिल उठा। वह भूल गई अपनी दुर्दशा, वह भूल गई कि वह त्रिलोकवन्द्य भगवान् के उपयुक्त-आहार नहीं दे सकेगी। वहतो अपने सात्त्विक हृदय की भक्ति का अर्थ भगवान् के चरणों में चढ़ाने को आतुर हो उठी। हर्ष के अश्रु उसके नेत्रों से प्रवाहित होने लगे। वह भगवान् का प्रतिग्रह करने के लिए अभी मिले हुए मिट्टी

के सकोरे में कोदों का भात लिए आगे बढ़ी। भगवान् के प्रभाव से उसके बंधन टूट गये, सिर पर रेशमी बाल आ गये, मिट्टी का सकोरा स्वर्ण पात्र और कोदों का भात अमृतभोजन हो गया। भगवान् ने अपने पाणिपात्र में निष्काम-भाव से खड़े-खड़े उसके हाथ से अल्प-आहार लिया और वन की ओर चले गये।

देवों ने आकाश में और मनुष्यों ने नगर में चन्दना के भाग्य की सराहना की। तभी श्रेष्ठी प्रवास से वापिस लौटे। वे अपनी पुत्री के सौभाग्य पर बड़े हर्षित हुए और अपनी स्त्री द्वारा किये गये दुर्व्यवहार पर बहुत क्षुब्ध हुए। चन्दना द्वारा भगवान् को दिये गये इस आहार की चर्चा सम्पूर्ण कौशाम्बी में होने लगी। इसकी गूँज राजमहलों में भी जा पहुँची। यह समाचार सुनकर 'वत्स देश' की पट्टमहिषी 'मृगावती' उस महाभाग रमणीरत्न से मिलने को उत्सुक हो उठी, जिसे भगवान् को आहार देने का पुण्ययोग मिला। स्वयं श्रेष्ठी ऋषभदत्त के भवन में मिलने आई और चन्दना से मिली। वह यह देखकर अवाक् रह गई कि रमणीरत्न और कोई नहीं, उसकी सगी बहन है। उसने चन्दना से सारा वृत्तान्त सुना और उसे अपने महलों में ले गई। वहाँ से उसका भाई सिंहभद्र 'वैशाली' ले गया, किन्तु चन्दना को इस अल्पवय में ही संसार का कटु अनुभव हुआ था, उसके कारण उसे संसार से निर्वेद हो गया। जब भगवान् को केवलज्ञान हो गया, तब चन्दना ने भगवान् के निकट आर्थिका दीक्षा ले ली और अपनी योग्यता एवं साधना के बल पर 36000 आर्थिकाओं के संघ की गणिनी के पद पर प्रतिष्ठित हुई।

भगवान् ने राजमहलों के सुस्वादु व्यंजन ठुकराकर एक दासी के नीरस कोदों का आहार लिया, इससे जनसाधारण की निगाह दास-प्रथा की भयंकरता की ओर गई। परिणाम यह हुआ कि दास-प्रथा भारत से उठ गई।

भगवान् को केवलज्ञान

बारह वर्ष तक मौन रहकर कठोर-साधना और तप करते हुए भगवान् 'जृम्भिक ग्राम' के निकट 'ऋजुकूला नदी' के तट पर जाकर ध्यानावस्थित हो गये। उन्होंने आत्मा के सम्पूर्ण विकारों और घातिया-कर्मों का नाश करके वैशाख शुक्ल दशमी के अपराह्न-काल में केवलज्ञान आदि अनन्त-चतुष्टय प्रकट कर लिये। वे सशरीरी-परमात्मा बन गये।

धर्मचक्र-प्रवर्तन

समवसरण के मध्य में गन्धकुटी में सिंहासन पर भगवान् विराजमान थे। समवसरण में देव, मनुष्य, तिर्यञ्च आदि असंख्य श्रोता विद्यमान थे। वे भगवान् की दिव्यध्वनि सुनने के लिए उत्सुक थे, किन्तु भगवान् मौन थे। मौन की अवधि लम्बी होती जा रही थी। 66 दिन तक, केवलज्ञान होने पर तीर्थंकर की दिव्यध्वनि प्रगट न हो, यह अभूतपूर्व घटना थी। सौधर्मन्द्र ने विचार किया — "क्या कारण है, जो भगवान् की दिव्यध्वनि प्रगट नहीं हो रही?" इन्द्र को समझने में देर न लगी कि गणधर के बिना तीर्थंकर की दिव्यध्वनि नहीं

खिरती और भगवान् का गणधर बनने की पात्रता केवल इन्द्रभूति गौतम में है।

यह विचार करके इन्द्र वृद्ध ब्राह्मण का रूप धारण करके ब्राह्मण-समाज के शीर्षस्थ विद्वान् इन्द्रभूति गौतम के आवासीय गुरुकुल में जा पहुँचा। वहाँ पाँच सौ शिष्य अध्ययनरत थे। इन्द्र ने गौतम को नमस्कार किया और बोला—“पूज्यवर ! मेरे गुरुदेव ने मुझे एक गाथा बताई थी। वह मेरी समझ में नहीं आई है। आपकी कीर्ति सुनकर मैं आपके पास आया हूँ। कृपाकर आप उसका अर्थ बता दीजिये।”

इन्द्र ने जो गाथा बताई, गौतम उसे देखकर असमंजस में पड़ गये और बोले—“मुझे अपने गुरु के पास ले चलो। मैं उन्हीं के सामने तुम्हें अर्थ समझाऊँगा।”

इन्द्रभूमि गौतम अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ इन्द्र के साथ चल दिए और ‘राजगृह’ के बाहर ‘विपुलाचल’ पर पहुँचे। वहाँ इन्द्रभूति ने समवसरण के प्रवेशद्वार से जैसे ही प्रवेश किया, उनकी दृष्टि सामने खड़े मानस्तंभ के ऊपर पड़ी। इस मातस्तंभ में मानगर्वित जनों के मान को गलित करने की अद्भुत क्षमता थी। उन्होंने देखा, तो देखते ही रह गये। उनके भावों में प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहे थे। उनका ज्ञानमद विगलित हो रहा था। वे आगे बढ़े और जब उन्हें गन्धकुटी में विराजमान भगवान् के दर्शन हुए, वे विनय और भक्ति की साकार मूर्ति बने हुए भगवान् के चरणों में प्रणिपात करके बोले “भगवन् ! मैं ज्ञान के अहंकार में सज्ज्ञान को भूल गया था। अब मुझे अपने चरणों में शरण दीजिए।” यों कहकर उन्होंने मुनि-दीक्षा ले ली। उस समय उनके भाव इतने निर्मल थे कि उन्हें तत्काल अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान प्राप्त हो गया। वे भगवान् के मुनिसंघ के मुख्य-गणधर बने।

इन्द्रभूति द्वारा मुनि-दीक्षा लेते ही 66 दिन रुकी हुई भगवान् की दिव्यध्वनि प्रगट हुई— “गौतम ! तेरे मन में संदेह है कि जीव है या नहीं?” इस विषय को लेकर भगवान् की दिव्यध्वनि में जीवतत्व का विस्तृत-विवेचन हुआ। भगवान् का प्रथम-उपदेश श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के प्रातःकाल हुआ था। अतः यह दिवस ‘वीरशासन जयन्ती’ के रूप में मनाया गया।

इन्द्रभूति के पाँच सौ शिष्यों ने भी मुनि-दीक्षा ले ली। इसके बाद ब्राह्मण-समाज के मूर्धन्य विद्वान् अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्म, मण्डिक पुत्र, मौर्य पुत्र, अकम्पित, अचल भ्राता, मेतार्य और प्रभास अपने शिष्य-परिकर के साथ भगवान् को पराजित करने आये और भगवान् का शिष्यत्व स्वीकार करके मुनि बन गये। ये सभी भगवान् के गणधर बन गये। इनके शिष्य भी भगवान् के चरणों में मुनि बन गये, जिनकी कुल संख्या 4600 थी।

उनका यह धर्मचक्र प्रवर्तन ही तीर्थप्रवर्तन था, जिसके कारण वे ‘तीर्थकर’ कहलाये। इसके बाद उन्होंने सम्पूर्ण देश में विहार करके अपने उपदेशों द्वारा धर्म-जागृति की। उन्होंने काशी, कोशल, कुसुंध, अश्वषट, साल्व, त्रिगर्त, पांचाल, भद्रकार, पाटच्चर, भौम, मत्स्य, शूरसेन, कलिंग, कुरुजांगल, कैकेय, आजेय, कांबोज, वाल्हिक, यवनश्रुति, सिन्धु,

गान्धार, सूरभीरू, दशेरुक, वाडवान, भारजद्वाज, कायतोय, तार्ण, कार्ण, प्रच्छाल आदि प्रदेशों में विहार करके लोक में व्याप्त अज्ञान-अंधकार को दूर किया।

भगवान् के उपदेश और उनका दूरगामी प्रभाव

भगवान् महावीर के उपदेश वस्तुतः नवीन थे। वे पूर्ववर्ती तीर्थकरों के उपदेशों के नवीन संस्करण थे। वे उपदेशमात्र ही नहीं थे, यह एक महान् क्रान्ति थी, जिसने लोक-मानस में व्याप्त सारे मूल्यों में महान्-परिवर्तन ला दिया। उन्होंने तत्कालीन मान्यताओं के विरुद्ध नवीन-मूल्यों की स्थापना की। उनके उपदेश प्राणीमात्र के कल्याण के लिए थे। सभी को उनके धर्म का पालन का अधिकार था, सभी को उनकी उपदेश-सभा (समवसरण) में जाने का अधिकार था। धार्मिक एकाधिकार के विरुद्ध यह आध्यात्मिक-जनतन्त्र था, जिसमें ऊँच-नीच की कल्पना और वर्ग भेद की किसी मान्यता को कोई स्थान न था। सबको विकास का समान अवसर और अधिकार है, यह जीव-साम्य का बाह्य पहलू था। सब में जीने-की समान इच्छा है, सबको प्राण समान-प्रिय हैं, इसलिए किसी को सताने और मारने का भी हमें अधिकार नहीं है। यह उस जीव-साम्य का आंतरिक पहलू था और जिसे समझाना ही उस क्रान्ति का एकमात्र उद्देश्य था।

भाषा के संबंध में लोक में एक विशेष मान्यता बद्धमूल हो रही थी। संस्कृत-भाषा धार्मिक-वाङ्मय और आभिजात्य-वर्ग के लिए अनिवार्य मानी जाती थी। भाषा के इस व्यामोह ने स्त्रियों और शूद्रों के विरुद्ध घृणा का वातावरण बना दिया था। इस व्यामोह ने अन्य भाषाओं का विकास अवरुद्ध कर दिया था। भगवान् महावीर ने लोकभाषा 'प्राकृत' में उपदेश देकर भाषाविशेष के प्रति व्यामोह को भंग कर दिया और यह समझा दिया कि भाषा का महत्त्व भावों को अभिव्यक्त करने तक है, अधिक कुछ नहीं। इसीप्रकार सत्य के संबंध में भी एक जड़ता व्याप्त थी। एक वर्ग की मान्यता थी कि 'जो उनका है, वही सत्य है और सब मिथ्या है।' इस तरह सत्य को अपनी मान्यताओं से जकड़कर पंगु बना दिया था। सत्य निश्चित-ग्रंथों में ही उपलब्ध है, इस मान्यता से सत्य के अन्वेषण और शोध को कोई अवकाश ही नहीं रह गया था। महावीर ने कहा "सत्य व्यापक है, सापेक्ष है और उनकी मान्यताओं के बाहर भी वह मिल सकता है।" यह दृष्टि थी सत्य शोध की, अनेकान्त और स्याद्वाद की। ईश्वरवाद की मान्यता ने लोगों को भाग्यवादी और मनोवैज्ञानिक रूप से पराधीन-मनोवृत्ति वाला बना दिया था। महावीर ने कहा— "सारे प्राणियों में अनन्त शक्ति निहित है। उसका उद्घाटन करना प्राणी के अपने पुरुषार्थ पर निर्भर है। यदि उसे अपनी शक्ति का भान हो जाए और अपने चरम-विकास का संकल्प दृढ़ हो जाए, तो वह कर्मों के फल को बदल सकता है, और कर्मों का नाश भी कर सकता है।"

भगवान् पार्श्वनाथ को निर्वाण हुए अभी केवल ढाई सौ वर्ष ही व्यतीत हुए थे, किन्तु इस काल में वैदिक-ऋषियों ने पूरी शक्ति से हिंसामूलक-यज्ञों और क्रियाकाण्डों का प्रचार किया। फलतः स्थान-स्थान पर यज्ञ होने लगे और उनमें असंख्य-पशुओं का होम किया

जाने लगा। देवताओं के नाम पर बलि दी जाने लगी, पितरों और अतिथियों के लिए पशु काटे जाने लगे। यज्ञों के हवन-कुण्ड और देवताओं की वेदियाँ पशुओं की करुण-चीत्कारों और रक्त से सन गये। यज्ञों के विषाक्त-धुयें से मनुष्यों के कण्ठ रुद्ध होने लगे। यज्ञों में और देवताओं के आगे नर-बलि तक दी जाने लगी।

इस काल में महावीर का उदय हुआ। उन्होंने घोषणा की 'धर्म अहिंसा है, हिंसा धर्म नहीं है। यदि हिंसा धर्म हो तो फिर पाप क्या है?' भगवान् महावीर का ही यह लोकोत्तर-प्रभाव था कि उनके उपदेशों ने लोकमानस में जबर्दस्त परिस्पन्द पैदा किया। लोग धर्म के नाम पर होनेवाली हिंसा से घृणा करने लगे, यज्ञों में बलिप्रथा समाप्त हो गई। पुरानी मान्यतायें टूट-टूट कर गिरने लगीं, नये मूल्य उभरने लगे और तब लोग अहिंसा की भाषा में सोचने लगे और बोलने लगे। महावीर की अहिंसा का दूरगामी प्रभाव यह पड़ा कि भारत में बाद में सारे धर्मों का विकास अहिंसा के आधार पर ही हुआ। यहाँ उस समय अहिंसा की जो प्रतिष्ठा हुई, उसी के संस्कार भारतीयों में अब तक भी विद्यमान हैं। किसी युग में किसी एक व्यक्ति ने सारी लोक-मान्यताओं को बदल दिया हो, इतिहास में महावीर के अतिरिक्त ऐसा अन्य-उदाहरण नहीं मिलता।

राज्य वर्ग पर महावीर का प्रभाव

भगवान् महावीर लोकोत्तर-महापुरुष थे। उनके व्यक्तित्व और देशना का प्रभाव निर्धन से लेकर राजाओं तक समानरूप से पड़ा था और वे सपरिवार उनके धर्म में दीक्षित हो गये थे। उनके धर्म में दीक्षित होनेवाले राजाओं में वैशाली के गणप्रमुख चेटक, कुण्डग्राम के गणप्रमुख सिद्धार्थ, राजगृह-नरेश श्रेणिक बिम्बसार, सिंधु-सौवीर-नरेश उदायन, वत्स नरेश शतानीक, दशार्ण नरेश दशरथ, हेमांगद (वर्तमान कर्नाटक) के नरेश जीवन्धर कुमार, पोलाशपुर-नरेश विजयसेन, चम्पानरेश कुणिक अजातशत्रु, काशीनरेश जितशत्रु, कलिंग नरेश जितशत्रु, शूरसेन-नरेश उदितोदय, काम्पिल्य-नरेश जय, पारस्य-देश (ईरान) का राजकुमार आर्द्रक आदि भगवान् के अनुयायी भक्त थे। 'इससे भगवान् के व्यापक प्रभाव का पता चलता है।

महावीर का परिनिर्वाण

भगवान् महावीर 72 वर्ष की आयु में कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी के प्रातःकाल 'मज्झिमा पावा' में (वर्तमान पावापुरी में) कर्मों का नाश करके मुक्त हो गये। देवों और मनुष्यों ने तब दीप प्रज्वलित किये। उसी अमावस्या की संध्या को उनके मुख्य-गणधर इन्द्रभूमि गौतम को केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। रात्रि में देवों ने रत्न-दीपक संजोये, मनुष्यों ने कहा— "भाव-प्रकाश चला गया। अब हम उनकी स्मृति में द्रव्य-प्रकाश करेंगे।" तब उन्होंने दीपकों से दीपमालिका सजाई। कृतज्ञ-जनता भगवान् के निर्वाण की स्मृति सुरक्षित रखने के लिए प्रतिवर्ष इस दिन 'दीपावली' मनाने लगी। इसप्रकार 'दीपावली पर्व' का प्रचलन हुआ।

**केवलज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् तीर्थकर वर्धमान महावीर भगवान् का
मंगल-विहार एवं उनके समवधारण का शुभ-आगमन**

1. ईसापूर्व 557 राजगृह (विपुलाचल पर्वत)
- ईसापूर्व 556 वैशाली
- ईसापूर्व 555 वाणिज्यग्राम
- ईसापूर्व 554 राजगृह
- ईसापूर्व 553 वाणिज्यग्राम
- ईसापूर्व 552 राजगृह
- ईसापूर्व 551 राजगृह
- ईसापूर्व 550 वैशाली
- ईसापूर्व 549 वैशाली
- ईसापूर्व 548 राजगृह
- ईसापूर्व 547 वाणिज्यग्राम
- ईसापूर्व 546 राजगृह
- ईसापूर्व 545 राजगृह
- ईसापूर्व 544 मिथिला
- ईसापूर्व 543 श्रावस्ती
- ईसापूर्व 542 वाणिज्यग्राम
- ईसापूर्व 541 राजगृह
- ईसापूर्व 540 वाणिज्यग्राम
- ईसापूर्व 539 वैशाली
- ईसापूर्व 538 वैशाली
- ईसापूर्व 537 राजगृह
- ईसापूर्व 536 नालन्दा
- ईसापूर्व 535 वैशाली
- ईसापूर्व 534 वैशाली
- ईसापूर्व 533 राजगृह
- ईसापूर्व 532 नालन्दा
- ईसापूर्व 531 मिथिला
- ईसापूर्व 530 मिथिला
- ईसापूर्व 529 राजगृह
- ईसापूर्व 528 पावापुरी ("पावायां मध्यमायां हस्तिवालिकामण्डपे नमस्यामीति")

1. इनके अतिरिक्त उज्जयिनी, जृम्भिकागांव (बिहार), कलिंग तथा भारत के प्रत्येक प्रांतों में धर्म-देशना देते हुये मंगल-विहार करते रहे हैं।



मनीषीप्रवर टोडरमल :

प्रमुख शौरसेनी जैनागमों के प्रथम हिन्दी टीकाकार

—प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन

विगत तीन शताब्दियों में जैन-परम्परा में जितने भी मनीषी-साधक हुये हैं, उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का सूक्ष्म अवलोकन किया जाये, तो पंडित टोडरमल जी का स्थान सर्वोपरि सिद्ध होगा। यद्यपि इस ज्वलंत सत्य को कतिपय पूर्वग्रही व्यक्तित्व अंदर से स्वीकारते हुए भी वाचिक-स्वीकृति देने में कृपणता करने लगते हैं। जो पं० जी के प्रशंसक हैं, वे भी शायद इतनी गहराई एवं व्यापक तुलनात्मक अध्ययन के साथ उनसे परिचित नहीं हैं। एक सारस्वत साधक की शोधपूर्ण लेखनी से प्रसूत यह आलेख प्रत्येक जिज्ञासु को अवश्य पठनीय एवं मननीय है।

—सम्पादक

पण्डितप्रवर टोडरमल जी 18-19वीं सदी की महान् विभूति एवं प्रमुख शौरसेनी-जैनागमों के सर्वप्रथम हिन्दी-टीकाकार थे। उन्होंने जैन-सिद्धान्तों एवं जैनदर्शन के दुरूह-रहस्यों का जनभाषा में उद्घाटन कर जिनवाणी की महती-सेवायें की हैं। शौरसेनी-जैनागमों में सूत्रशैली में वर्णित करणानुयोग, द्रव्यानुयोग एवं चरणानुयोग के विषय अत्यन्त जटिल एवं नीरस समझे जाते हैं, अतः समय-समय पर इनके ऊपर प्राकृत-संस्कृत टीकायें भी लिखी जाती रही हैं। वे तत्कालीन दृष्टिकोण से भले ही सुबोध रही हों, किन्तु परवर्ती कालों में भाषापरिवर्तन के अनिवार्य-नियमों के कारण पुनः दुर्बोध सिद्ध होने लगीं। इसकारण आगमों का अध्ययन एवं स्वाध्याय सीमित होने लगा। पण्डित टोडरमलजी प्रथम विद्वान् थे, जिन्होंने युग की आवश्यकता को समझा और अपने सभी प्रकार के ऐहिक-सुख-भोगों को जिनवाणी-माता की पुण्यवेदी पर समर्पित कर उक्त आगम एवं कुछ प्रमुख अनुवर्ति-आगमग्रन्थों को लोक-प्रचलित भाषा में प्रस्तुत किया और इसप्रकार स्वाध्याय की परम्परा को लुप्त होने से बचा लिया।

जनभाषा के अनन्य-सेवक एवं हिन्दी-गद्य के प्रथम निर्माता

टोडरमलजी परम निष्ठावान्, सात्त्विक चरित्र, निरभिमानी, लोकोत्तर-प्रतिभा के धनी एवं मनस्वी व्यक्ति थे। उनकी जिह्वा पर सरस्वती का साक्षात् निवास था। राष्ट्रभाषा के वे परम पुजारी थे। प्राचीन भारतीय भाषायें उनके लिये प्रेरणा की अजस्र-स्रोत थीं अवश्य,

किन्तु युग के साथ चलना वे आत्म एवं परहित की दृष्टि से श्रेयस्कर समझते थे। अतः जनभाषा को वे कभी न भूले। प्राचीन ज्ञान-विज्ञान की परम्परा को उन्होंने नतमस्तक होकर अवधारण किया तथा जनसामान्य को लाभान्वित कराने-हेतु उन्होंने जनभाषा अथवा देशभाषा का सहारा लिया। यथा— ... तिस करि हमारे हू किंचित् सत्यार्थ पदनि का ज्ञान भया है। बहुरि इस निकृष्ट समयविषै हम सारिखे मंदबुद्धीनिँ भी हीनबुद्धि के धनी घने जन अवलोकिए हैं। तिनकौँ तिन पदनि का अर्थ ज्ञान होने के अर्थि धर्मानुरागी के वशतँ देशभाषामय ग्रन्थ करने की हमारे इच्छा भई, ताकरि हम यहु ग्रन्थ बनावै हैं। सो इस विषै भी अर्थसहित तिनहीं पदनि का प्रकाशन हो है। इतना तो विशेष है, जैसे प्राकृत, संस्कृतशास्त्रनिविषै प्राकृत-संस्कृत पद लिखिए हैं, तैसेँ इहाँ अपभ्रंश लिए वा यथार्थपना को लिए देशभाषारूप पद लिखिए हैं, परन्तु अर्थविषै व्यभिचार किछू नाहीं है।.....।

उनकी टीकाओं की भाषा ऐसे युग में प्रारम्भ होती है, जब प्रारम्भिक हिन्दी-गद्य का नवोन्मेष हो रहा था। यद्यपि छिटपुट-रूप में टोडरमलजी से कुछ ही समय पूर्व के हिन्दी-गद्य के रूप मिल जाते हैं; किन्तु उनसे गद्य ही उस समय विचारों के वाहन का मुख्य-साधन था, यह नहीं कहा जा सकता। हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों ने गद्य की समस्त विधाओं से युक्त प्राचीन से प्राचीन गद्य-ग्रन्थ 1800 ई० के बाद का ही उल्लिखित किया है।¹ इससे यह निश्चयपूर्वक माना जा सकता है कि हिन्दी-गद्य के निर्माण एवं रूपस्थिरीकरण में टोडरमलजी का प्रमुख योगदान रहा है। उनकी टीकाओं के प्रवाहपूर्ण गद्यों में वही मनोरमता, सरसता एवं स्वाभाविकता है, जो पर्वतीय निर्मल-स्रोतों में। हिन्दी-गद्य के इतिहास में उनका स्थान निस्सन्देह अग्रगण्य है।

समर्थ व्याख्याकार एवं लेखक

पण्डितप्रवर के समय मुद्रणालयों का आगमन भारत में नहीं हुआ था, उस समय तक प्राचीन आर्ष-ग्रन्थों का संकलन, अध्ययन, मनन, चिन्तन एवं लेखन सभी सहज-कार्य न थे। यातायात के साधन भी विकसित न थे। इन सभी कठिनाइयों के बावजूद भी पण्डितजी ने अत्यन्त-अल्पायु प्राप्त होने पर भी जो कार्य किये, उन्हें देखकर आश्चर्य में डूब जाना पड़ता है। उपलब्ध सूचनाओं के अनुसार उन्होंने निम्नलिखित ग्रंथों को द्रव्यानुयोग, करणानुयोग एवं चरणानुयोग के प्रमुख-ग्रन्थ (Key Books) मानकर उनकी हिन्दी-टीकायें लिखीं— गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार एवं क्षणसार, त्रिलोकसार, आत्मानुशासन, पुरुषार्थसिद्धयुपाय एवं अर्थसंदृष्टि-अधिकार। इनके अतिरिक्त उनकी तीन स्वतन्त्र रचनायें हैं— रहस्यपूर्ण चिट्ठी, मोक्षमार्ग-प्रकाशक एवं गोम्मटसार-पूजा।

गोम्मटसारादि की टीकाओं में उन्होंने जो घोर परिश्रम किया है, वह तो वही समझ सकता है, जिसने उसप्रकार का कार्य किया हो। स्वतन्त्र-ग्रन्थ लिखना आसान है, किन्तु अनुवाद, भाष्य या टीकादि लिखना सहज नहीं। सच्चा भाष्य वही है, जिसमें मूलग्रन्थ के

अन्तरंग-भाव की यथावत् सुरक्षा बनी रहे। यह तभी सम्भव है, जब ग्रन्थ एवं ग्रंथकार की अन्तर्भावभूमि का मर्म भलीभाँति जान लिया जाये। इसके लिये गम्भीर साधना, विशाल प्रतिभा एवं सूक्ष्मदृष्टि की अत्यावश्यकता है। पण्डितजी साहित्य-साधना के मार्ग को अच्छी तरह समझते थे, इतिहास जानता है कि किसप्रकार उन्होंने जीवन-भोगों को तिलांजलियाँ दे दीं। उनकी साहित्य-लेखन की तन्मयता इसी से जानी जा सकती है कि उन्हें भोजन में लोने-अलोने का भेदभाव न रहा था। टोडरमल जी के साधनापूर्ण जीवन को देखकर हमें 'भामती' के लेखक पंडित वाचस्पति मिश्र की पुण्य-स्मृति आ जाती है, जिन्होंने अपनी साहित्य-साधना के समय लगातार बारह वर्षों तक रात-दिन, जाड़ा-गर्मी-बरसात, भूख-प्यास एवं निद्रा-अनिद्रा का भेदभाव भूला दिया था। पण्डितप्रवर ने भी ऐसी ही कठोर-साधना के बाद गोम्मटसारादि की विशाल टीकायें लिखी हैं। तब मर्मभेद करने में भला वे क्यों समर्थ न हों?

लोकोत्तर प्रतिभा के धनी गिरभिमानी व्यक्तित्व

पण्डितजी का विद्याध्ययन ढाई वर्ष की आयु से प्रारम्भ हुआ। उसी समय से अपनी अद्भुत प्रतिभा एवं स्मरणशक्ति से उन्होंने अपने गुरुजनों को आश्चर्यचकित कर दिया।

'जैनेन्द्र महाव्याकरण' का अध्ययन 10-11 वर्ष की आयु में कर लिया और इसी समय मुलतान की जैनसंज्ञा के नाम उन्होंने 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' लिखी। 14 वर्ष की आयु में 'गोम्मटसार' जैसे आगम-ग्रन्थ की वचनिका लिखी। आजकल 14 वर्ष की उम्र में बच्चों के ज्ञान से तुलना कर पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें कैसी दिव्य-प्रतिभा प्राप्त थी। उनका पण्डित्य क्रमशः निखरता गया और यश भी गगन चूमने लगा। सोना देखकर चाहे सुन्नू हो या मुन्नू, सभी के मुख में पानी आ जाता है, फिर उसे राज-सम्मान भी मिलने लगे, तब क्या कहना; किन्तु ऐसे लोग प्रायः अहंकारी बन जाते हैं और चन्द्रलोक से बातें करते हैं। लेकिन एक सच्चे तपस्वी एवं मूक-साधक की स्थिति इसके विपरीत होती है। टोडरमलजी ज्ञान की सार्थकता विनयगुण, शीलरूप, भद्र-परिणाम एवं आत्मानुशासन से मानते थे। उन्होंने अपने पण्डित्य एवं यशोवृद्धि के कारण कभी भी अभिमान नहीं किया। त्रिलोकसार' जैसे करणानुयोग के कठिन-ग्रंथ की सुन्दर एवं सुबोध-टीका लिखकर भी उन्होंने अपने को मन्दमति ही माना है। यथा—“इस शास्त्र की संस्कृत टीका पूर्वे भई है, तथापि तहां संस्कृत, गणित्तादिक का ज्ञान बिना प्रवेश होइ सकता नाही। तातैं स्तोक ज्ञानवालों के त्रिलोक के स्वरूप का ज्ञान होने के अर्थि तिस ही अर्थकों भाषाकरि लिखिए हैं या विषैं मेरा कर्तव्य इतना ही है जो क्षयोपशम के अनुसारि तिस शास्त्र का अर्थकों जानि धर्मानुरागतैं औरनि के जानने के अर्थि जैसे कोई मुखतैं अक्षर उच्चारि करि देशभाषारूप व्याख्यान करै, तैसैं मैं हस्ततैं अक्षरनि की स्थापना कर लिखोंगा। बहुरि छंदनि का जोड़ना नवीन युक्ति अलंकारादि का प्रकट करना इत्यादि नवीन-ग्रन्थकारकनि के कार्य हैं, तेतौ मोतैं बनै ही नाही। तातैं ग्रन्थ का कर्तापना मेरे है नाही।”

साहित्यिक मर्यादाओं के प्रतिपालक

साहित्य के क्षेत्र में जिस नैतिक मर्यादा एवं साहित्यिक ईमानदारी की आवश्यकता है, वे श्रद्धालु मन से उनके प्रतिपालक थे। जो विषय उन्हें अधिक स्पष्ट नहीं होता था, अथवा जिस विषय पर वे अधिक प्रकाश नहीं डाल पाते थे, उस विषय में वे अपनी कमजोरी व्यक्त कर क्षमायाचना कर लेते थे। उन्होंने 'त्रिलोकसार' की भूमिका (पृ०३) में लिखा है:—“इस श्रीमत् त्रिलोकसार नाम शास्त्र के सूत्र नेमिचन्द्र नामा सिद्धान्तचक्रवर्ती करि विरचित है, तिनकी संस्कृत-टीका का अनुसार लेइ इस भाषा-टीका-विषै अर्थ लिखोंगा। कहीं कोई अर्थ न भासैगा ताकों न लिखोंगा। कहीं समझने के अर्थि बधाय करि लिखोंगा। ऐसै यहु टीका बनेगी, ता विषै जहां चूक जानों, तहां बुधजन संवारि शुद्ध करियो। छद्मस्त के ज्ञान सावर्ण हो हैं, तातै चूक भी परै। जैसे जाको थोरो सूझै अर वह कहीं विषय मार्ग-विषै स्वलित होइ, तौ ब्रहुत सूझनेवाला वांकी हास्य न करै.... ऐसे विचारतै इस टीका करने विषै मेरे उत्साह ही वर्ते है।”

निस्सन्देह ही महाकवि बनारसीदास जी, जिन्होंने कि अपने हिन्दी के सर्वप्रथम जीवन-चरित 'अर्धकथानक' में अपनी अच्छी-बुरी सभी बातें विस्तारपूर्वक लिखकर अपनी साहित्यिक ईमानदारी का परिचय दिया है और साहित्य-जगत् का ध्यान आकर्षित किया है, इसीप्रकार पं० टोडरमलजी भी उसी श्रेणी के प्रतिभा-पुत्र हैं। इस दिशा में वे नवीन पीढ़ियों के लिये आदर्श हैं।

यशोगाथा दिग्दिगन्त में समा गई

समाज उन्हें किसप्रकार अपना शिरोमणि मानता था तथा उनकी साधना एवं उपदेशामृत के पान करने हेतु लालयित रहता था, इसके उल्लेख उनके समकालीन साधर्मी भाई रायमल्लजी ने किये हैं। उन्हें पढ़ने से तथा उनकी 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' की लोकप्रियता से विदित होता है कि उनके यश की सुरभि अतिशीघ्र ही जयपुर की परिधि लांगकर पंचनद के अंचल में मुलतान तक तथा वहाँ से मौसमी मानसूनों के साथ पूर्व, उत्तर एवं दक्षिण भारत तक पहुँच गई। वह सुरभि आज भी दिग्दिगन्त में व्याप्त है, किन्तु सोनगढ़ उनका केन्द्र बन रहा है। सौराष्ट्र ने निश्चयनयवाद के इस महान् वक्ता की जो प्रतिष्ठा की है, वह उनके अनुरूप ही है। उसने अपने को सौभाग्य से सुशोभित किया है।

गोम्मटसार-पूजा का रहस्य

'गोम्मटसार' की पूजा पण्डितजी ने जिस तन्मयता के साथ लिखी, वह भी एक रहस्य है। उक्त पूजा के माध्यम से आचार्यप्रवर ने गौतम गणधर एवं उनकी परवर्ती आचार्य-परम्परा, समस्त द्वादशांगवाणी आदि की भाव-विभोर होकर पूजा की है। जिसप्रकार 'ओम्' के उच्चारण से पंच-परमेष्ठी एवं सारे ज्ञान-विज्ञान का एक साथ स्मरण हो जाता है, पण्डित जी की दृष्टि में 'गोम्मटसार' के प्रति भी वही विराट कल्पना थी।

गौरव-ग्रन्थ 'मोक्षमार्ग प्रकाशक'

'मोक्षमार्ग प्रकाशक' पण्डितजी का स्वतन्त्र ग्रन्थ होते हुए भी जैन-वाङ्मय का सारभूत है। इन सबके बावजूद आचार-विचार में व्याप्त शिथिलता, ढोंग, पाखण्ड आदि की तीव्र आलोचना एवं जैन सिद्धान्तों तथा दर्शन पर व्यर्थ के लगाये गये लांछनों का समुचित उत्तर उसमें दिया गया है। यह ग्रन्थ लिखते समय इनसे प्रश्न किया गया कि पूर्वाचार्यों के बड़े-बड़े ग्रन्थ उपलब्ध हैं ही, फिर इस ग्रन्थ के लिखने की क्या आवश्यकता? उसके उत्तर में पण्डितजी ने कहा है कि पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों को समझने के लिये प्रखर-बुद्धि एवं भाषा, व्याकरण, न्याय, छन्द, अलंकार आदि का ज्ञान आवश्यक है। जो ऐसे हैं, वे उन्हें पढ़ सकते हैं; किन्तु जो अल्पबुद्धि हैं, उनका प्रवेश उन ग्रंथों में सम्भव नहीं। अतः उन्हीं मन्दमति सामान्यजनों के हितार्थ यह ग्रन्थ लिखा जा रहा है।³ 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में कुल नौ अधिकार हैं और उनके लिखने के लिये उन्हें श्वेताम्बर एवं दिगम्बर जैनागम, अनुआगम, वैदिक, बौद्धि, इस्लाम प्रभृति सम्प्रदाय के ग्रंथों का अध्ययन करना पड़ा था। प्राप्त सन्दर्भों के अनुसार उनकी वर्गीकृत सूची निम्न प्रकार है :—

'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में प्रयुक्त सन्दर्भ-ग्रन्थ :

वैदिक धर्म ग्रन्थ

1. ऋग्वेद	(मोक्षमार्ग प्रकाशक के पृ० 208)
2. यजुर्वेद	208, 209
3. छान्दोग्योपनिषद्	139
4. मुण्डकोपनिषद्	139
5. कठोपनिषद्	139
6. विष्णुपुराण	148, 163
7. वायुपुराण	148
8. मत्स्यपुराण	149
9. ब्रह्मपुराण	163
10. गणेशपुराण	205
11. प्रभासपुराण	206
12. नगरपुराण (भवावतार रहस्य)	207
13. काशीखण्ड	206
14. मनुस्मृति	208
15. महाभारत	210
16. हनुमन्नाटक	204
17. दशावतार-चरित्र	206

18. व्याससूत्र	205
19. भागवत	163, 164
20. गीता	150, 181, 369
21. अवतारवाद	162
22. योगशास्त्र	167
23. योगवशिष्ट	203
24. वैराग्यशतक	201
25. नीतिशतक	282
26. दक्षिणामूर्तिसहस्रनाम	203
27. वैशम्पायनसहस्रनाम	204
28. महिम्नस्तोत्र (दुर्वासाकृत)	204
29. रुद्रयामलतन्त्र	205

भारतीय दर्शन के ग्रन्थ

30. वेदान्त	181
31. सांख्यकारिका	182
32. न्यायदर्शन	185
33. वैशेषिक	188
34. मीमांसा	192
35. जैमिनीय	193
36. चार्वाक	196

इस्लाम

37. कुरानशरीफ	180
---------------	-----

बौद्ध ग्रन्थ

38. अभिधर्मकोष	193, 194
----------------	----------

छन्दोग जैन ग्रन्थ

39. आचारांगसूत्र	212
40. भगवतीसूत्र	237
41. उत्तराध्ययनसूत्र	223
42. जीवाजीवाभिगम	288
43. वृहत्कल्पसूत्र	223
44. उपदेशसिद्धान्त-रत्नमाला	260,264,313,441

45. संघपट्ट	265
46. ढूंढारी-पन्थ	232
दिगम्बर जैन ग्रन्थ	
47. षट्प्राभृत	262, 266-68
48. पंचास्तिकाय	326
49. प्रवचनसार	33, 272, 344
50. रयणसार	277
51. धवल	387
52. जयधवल	387
53. परमात्मप्रकाश	269
54. श्रावकाचार (योगीन्द्रदेवकृत)	350
55. गोम्मटसार	319, 387
56. लब्धिसार	385
57. क्षपणासार	
58. रत्नकरण्ड-श्रावकाचार	394
59. वृहत्स्वयम्भू-स्तोत्र	280
60. ज्ञानार्णव	439
61. धर्मपरीक्षा	399
62. सूक्तिमुक्तावली	413
63. आत्मानुशासन	24, 81, 269
64. तत्त्वार्थसूत्र	310, 329, 338
65. समयसारकलश	286-287
66. नाटक समयसार	305
67. पद्मनन्दि-पंचविंशति	295
68. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	372
69. आयुर्वेद के ग्रन्थ	412, 413, 439, 443
70. पाहुडदोहा	24, 25

‘मोक्षमार्ग प्रकाशक’ वस्तुतः अमृतघट है। उसका एक-एक विषय सरल एवं मधुर है। जिसप्रकार ‘रामचरितमानस’ में सुखी-दुःखी, गरीब-धनवान, भाई-बहिन, पति-पत्नी, माता-पिता, शत्रु-मित्र, रिश्तेदार आदि सभी प्राणी अपनी-अपनी इच्छित वस्तु प्राप्त कर प्रसन्नता से झूम उठते हैं; ‘मोक्षमार्ग प्रकाशक’ भी सामान्य मुमुक्षुजनों के लिये उसी औपन्यासिक-शैली में लिखा गया एक अनूठा-ग्रन्थ है। टोडरमलजी स्वयं ही ग्रन्थ की

विषय-गम्भीरता एवं लोकप्रियता से परिचित थे, फिर भी उन्होंने इसका नाम 'मोक्षमार्ग प्रकाश' न रखकर 'मोक्षमार्गप्रकाशक' रखा। व्याकरण के "लघ्वर्थे कः" के नियमानुसार उन्होंने 'प्रकाश' को 'प्रकाशक' कहकर यह सिद्ध किया है, कि द्वादशांग-वाणी के सम्मुख यह रचना नगण्य है। इस कथन से उनकी निरभिमानता सूचित होती है। 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' के आद्योपान्त अध्ययन करने से निम्नलिखित तथ्य सम्मुख आते हैं :—

आवश्यक मुद्दाव

1. मुद्रणालयों के प्रचलन के अभाव में भी इतने हस्तलिखित-ग्रन्थों को उपलब्ध कर उनका गहरा अध्ययन, मनन एवं चिन्तन करना सामान्य-प्रतिभावले व्यक्ति के लिये सम्भव न था। असामान्य प्रतिभावले पं० टोडरमलजी के लिये ही वह सम्भव था जो अल्प-आयुष्य में भी ऐसा महान् कार्य कर सके। अतः पण्डितजी द्वारा प्रयुक्त जैनग्रन्थों में जिनका प्रकाशन अभी तक न हुआ हो, उन्हें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचनायें समझकर उनका प्रकाशन तत्काल होना चाहिये।
2. मोक्षमार्ग प्रकाशक के कुछ उद्धरणों का मिलान आधुनिक मुद्रित ग्रन्थों के साथ करने से उनमें बहुत अन्तर प्रतीत होता है। अतः मुद्रित एवं अमुद्रित दोनों ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन करने से उन ग्रन्थों के पुनः नवीन प्रामाणिक संस्करण तैयार हो सकते हैं।
3. जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध करने हेतु पण्डितजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक में वैदिक एवं हिन्दू-शास्त्रों से जो उद्धरण दिये हैं, नवीन मुद्रित-ग्रन्थों में उनका अभाव अथवा परिवर्तन है। टोडरमलजी द्वारा प्रयुक्त वे सभी ग्रन्थ जयपुर के शास्त्र-भण्डारों में अवश्य होंगे। हस्तलिखित प्राचीन-ग्रन्थ होने के कारण उनकी प्रामाणिकता में सन्देह भी नहीं है। अतः उनका पुनः तुलनात्मक अध्ययन होना चाहिए। तथा प्राप्त तथ्यों का प्रकाशन होना चाहिये।

विचारधारा : निश्चय एवं व्यवहार

शौरसेनी-जैनागमों में निश्चयनय एवं व्यवहारनय की चर्चा आती है। इन विषयों को लेकर विद्वानों में आजकल बड़ा शास्त्रार्थ चला करता है। कोई निश्चयनय को ही यथार्थ मानता है और कोई निश्चय एवं व्यवहार दोनों को ही उपादेय मानता है; किन्तु टोडरमलजी के अनुसार निश्चय-व्यवहार दोनों को उपादेय मानना भ्रम है, क्योंकि दोनों नयों का स्वरूप परस्पर विरुद्ध है। व्यवहारनय सत्यस्वरूप का निरूपण नहीं करता; किन्तु किसी अपेक्षा से उपचार से वह अन्यथा ही निरूपण करता है। 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में उन्होंने लिखा है⁴ :— "निश्चयनय करि जो निरूपण किया होय, ताकौं तौ सत्यार्थ मानि ताका श्रद्धान अंगीकार करना, अर व्यवहारनय करि जो निरूपण किया होय, ताकौं असत्यार्थ मानि ताका श्रद्धान छोड़ना।" आगे उन्होंने 'समयसार कलश' एवं 'षट्प्राभृत' के उद्धरणों से अपने पक्ष का समर्थन भी किया है और उपसंहार वचनों में पुनः लिखा है⁵— "तातैं व्यवहारनय का

श्रद्धान छोड़ि निश्चयनय का श्रद्धान करना योग्य है। व्यवहारनय स्वद्रव्य परद्रव्य कौं वा तिनके भावनिकौं वा कारण कार्यादिककौं काहूकौं काहूविषै मिलाय निरूपण करै है। सो ऐसै ही श्रद्धानतै मिथ्यात्व है। तातै याका त्याग करना। बहुरि निश्चयनय तिनहीकौं यथावत् निरूपै है, काहूविषै न मिलावै है। ऐसे ही श्रद्धानतै सम्यक्त्व हो है। तातै याका श्रद्धान करना।”

मूर्तिपूजा

पण्डितजी मूर्तिपूजा को जैनाचार का एक आवश्यक अंग मानते थे। उनके अनुसार जिनमूर्ति सजीव अथवा शुद्धात्मा या परमात्मा की प्रतिच्छाया थी। अतः उन्होंने इसका समर्थन किया तथा ‘भगवतीसूत्र’ का अध्ययन कर उसमें प्राप्त ‘चैत्य’ शब्द के अर्थों में असंगति देखकर लिखा है:—“भगवतीसूत्र-विषै-जाय तत्थ चैत्यनिकौ वंदइ’ ऐसा पाठ है। याका अर्थ यहू-तहाँ चैत्यनिकौ बदै है। सों चैत्य नाम प्रतिमा का प्रसिद्ध है। बहुरि वै हठकरि कहै है-चैत्य शब्द के ज्ञानादिक अनेक अर्थ निपजै हैं, सो अन्य अर्थ हैं, प्रतिमा का अर्थ नहीं। याकौं पूछिये है—मेरुगरि नन्दीश्वरद्वीप-विषै जाय तहाँ चैत्यबंदना करी, सो उहाँ ज्ञानादिक की वन्दना तो सर्वत्र संभवै। जो वंदने-योग्य चैत्य उहीं ही संभवै, अर सर्वत्र न संभवै, ताकौं तहाँ वंदना करने का विशेष संभव, सो ऐसा संभवता अर्थ प्रतिमा ही है। अर ‘चैत्य’ शब्द का मुख्य अर्थ प्रतिमा ही है, सों प्रसिद्ध है। इस ही अर्थकरि चैत्यालय नाम संभवे है। याकौं हठ करि काहे कौं लोपिए।”

शिथिलाचार एवं गुरुडम का विरोध

पण्डित टोडरमलजी पाखण्ड, ढोंग, आडम्बर एवं गुरुडम के धोर विरोधी थे। शिथिलाचारी भट्टारकों ने अपने गुरुपद को सुरक्षित रखने के लिये मनमानी करना प्रारम्भ कर दी और सिद्धान्तागम ग्रन्थों का पढ़ना बन्द कर दिया था। जैन-मन्दिरों में स्वाध्याय कराने-हेतु पेशेवर पण्डितों की नियुक्तियाँ करा दीं तथा मन्दिरों में सिंहासनों पर आसीन होने लगे। तात्पर्य यह कि जब भट्टारक स्वयं मठाधीश बन गये तथा पण्डितजी यह न देख सके। इनका विरोध करने के लिये उन्होंने कमर कस ली। यद्यपि उनके पूर्व महाकवि बनारसीदास सन्त कबीर की तरह ही शिथिलाचारियों को डांट-फटकार कर झाड़ चुके थे, किन्तु उसका असर कम होने लगा था; अतः टोडरमलजी ने दुगुनी शक्ति से उनका विरोध किया। उनका यह विरोध जैनाचार के क्षेत्र में जबरदस्त क्रान्ति थी। यदि उस समय पण्डितजी क्रान्ति का स्वर न फूँकते, तो आज सच्चे साधुओं के स्थान पर शिथिलाचारी एवं सरागी तथाकथित साधुओं की पूजा होती। ‘मोक्षमार्ग प्रकाशक’ में लिखा है^६—“जहाँ मुनि के धात्रीदूत आदि छयालीस दोष आहारादिविषै कहे हैं, तहाँ गृहस्थिनि के बालकनिकौं प्रसंन करना, समाचार कहना, मंत्र, औषधि-ज्योतिषादि कार्य बतावना इत्यादि बहुरि किया करायो अनुमोघा भोजन लैना इत्यादि क्रिया का निषेध किया है, सो अब कालदोषतै इनही दोषनिकौं लगाय आहारादि ग्रहै है। नाना परिग्रह राखै है। बहुरि गृहस्थधर्मविषै भी उचित नहीं

वा अन्यान्य लोकनिंद्य पापरूप कार्य तिनिकों करते प्रत्यक्ष देखिये है। बहुरि जिनबिम्ब शास्त्रादिक सर्वोत्कृष्ट पूज्य तिनका सौ अविनय करै है। बहुरि आप तिनतैं भी महंतता राखि ऊँचा बैठना आदि प्रवृत्ति कों धारैं हैं। इत्यादि अनेक विपरीतिता प्रात्यक्ष भासै पर आपकौं मुनि मानैं, मूलगुणादिक के धारक कहावैं। ऐसे ही अपनी महिमा करावैं। बहुरि गृहस्थ भोले, उनकरि प्रशंसादिक करि ठिगे हुए धर्म का विचार करैं नाहीं? उनकी भक्ति-विषै तत्पर हो हैं। सो बड़े पापकौं बड़ा धर्म मानना, इस मिथ्यात्व का फल कैसे अनन्त-संसार न होय। एक जिनवचनकौं अन्यथा मानें महापापी होना शास्त्रविषै कहा है। यहाँ तौ जिनवचन की किछू बात राखी ही नाहीं। इस समान और पाप कौन है?”

जैन गणित के व्याख्याता

जैन-गणित स्वयं में परिपूर्ण एक वैज्ञानिक अंकविद्या है। करणानुयोग में भूगोल, खगोल के साथ-साथ अंकविद्या ही प्रमुख है। जैनाचार्यों ने इस क्षेत्र में अद्भुत कार्य किये हैं। उनका अन्तः परीक्षण कर देशी-विदेशी कई विद्वानों ने इसे ग्रीकपूर्व प्राचीन सिद्ध किया है। पं० टोडरमलजी उस अलौकिक जैन एवं लौकिक गणित के धुरन्धर विद्वान् थे, उन्होंने जनसामान्य के हितार्थ कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर गुर (Formula) लिखे थे। उन्हें देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि हर विषय में उनकी कितनी गहरी पैठ थी तथा दूसरों को समझाने की कैसी अद्भुत क्षमता थी। त्रिलोकसार' की भूमिका में उन्होंने लिखा है— “सर्व शास्त्रनिका ज्ञान होने को कारणभूत दोग विद्या हैं। एक अक्षरविद्या एक अंकविद्या। सो व्याकरणादि करि अक्षर ज्ञान भए अर गणित-शास्त्रनि करि अंगज्ञान भए, अन्य शास्त्रनि का अभ्यास सुगम हो है।”

जैन-गणित का वर्गीकरण करते हुए लिखा है—“बहुरि परिकर्माष्टिक को सीखना सो संकलन, व्यवकलन, गुणाकार, भागहार, वग, वर्गमूल, धन, धनमूल, इनकी परिकर्माष्टिक कहिए है।”

लम्बी संख्या का भाग करना प्रायः कठिन होता है, लेकिन पण्डितजी ने उसे हल करने के लिये एक नया गुर (सिद्धांत) ही बना दिया और सोदाहरण उसका विश्लेषणकर दिया यथा— “भाज्य राशि के अंतादिक जेते अंकनिकरि भाजक राशितैं प्रमाण वधता होइ, तितने अंकरूप राशिकों भाजक का भाग दीजिये। बहुरि जिस अंककरि भाजक कों गुणैं जाकों भाग दीया था, तामें घटाइ अवशेष तहाँ लिख दीजिये, अर वह पाया अंक जुदा लिख दीजिये। बहुरि जैतैं भाज्य के अंक रहे तिनके अंतादि अंकनिकों तैसैं ही भाग देइ जो अंक आवै, ताकों तिस पाया अंक के आगै लिखिए। ऐसैं ही यावत्सर्व भाज्य के अंक निःशेष होइ तावत् विधान करैं, तहाँ पाए अंकनिकरि जो प्रमाण आवै, सो तहां भाग दीए जो राशि भया, ताका नाम लब्धराशि है, ताकर प्रमाण जानना।” इस सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के लिये उन्होंने एक उदाहरण दिया है, जैसे 8192 में 64 का भाग देना है; आधुनिक रीति से तो $8192 \div 64$ करने में जटिलता अधिक है। किन्तु पण्डितजी के सिद्धांत के अनुसार भाज्य 8192 में से उसकी आदि दो संख्या

81 में से 64 भाजक घटा दिया, तब शेष रहा 1792। इस संख्या का आदि अंक 1 अलग लिख दीजिये। फिर 1792 की प्रथम तीन संख्याओं में अर्थात् 179 में भाजक 64 का भाग कर भजनफल 2 को उक्त 1 के साथ (अर्थात् 12) लिख दीजिये, शेष 51 बचा। उसे फल (2) के साथ लिखकर (512) पुनः भाजक का भाग दिया और पूर्वोक्त 12 के साथ इस भजनफल को मिला देने से 128 भजन फल हो गया। यथा—

प्राचीन पद्धति				नवीन पद्धति		
8192			1	64	8192	128
64				64		
1792				179		
				128		
64	179	2	12	×512		
	128			512		
	51			×		
64	512		128 उत्तर			उत्तर 128 लब्धराशि
	512	8				
	×					

अपने कार्यों के माध्यम से वे अमर हैं

“साहित्य-सेवा तो घरफूंक तमाशा है” —यह एक लोकप्रचलित कहावत प्रसिद्ध है। पूर्वाचार्यों पर यह उक्ति लागू होती है अथवा नहीं, यह तो कहना कठिन है; किन्तु भारतीय-साहित्य के हिन्दीकाल से ऐसा प्रायः देखा जाता रहा है। टोडरमलजी के ऊपर तो वह शतशः लागू होती है। उन्हें साहित्य-सेवा का जो फल मिला, वह हम सभी जानते हैं। उनकी मृत्यु-सम्बन्धी दुर्घटना के स्मरण से हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं, तथा सांस रंधने लगती है। मानवता के दुर्भाग्य से उन्हें वही पुरस्कार मिला, जो सहस्रों वर्ष पूर्व मानव-संस्कृति के महावाहक परमऋषि सुकरात, ईसा एवं नवयुग-निर्माता महात्मा गांधी को मिला। वस्तुतः उनके जीवन की वही खरी-परीक्षा थी और उसमें उन्होंने सर्वोपरि उत्तीर्णता प्राप्त की। आज ग्रह-नक्षत्रों के साथ उनकी दिव्यात्मा दैदीप्यमान है और सृष्टि के अन्त तक विवेकीजन उन्हें भुला न सकेंगे।

सन्दर्भग्रंथ-सूची

1. मोक्षमार्ग प्रकाशक (दिल्ली, 1950), पृ० 17।
2. पं० हजारीप्रसाद द्विवेदीकृत 'हिन्दी साहित्य' (दिल्ली 1952) पृ० 364-65।
3. मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृ० 29-30।
4. मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृ० 368।
5. वही, पृ० 369।
6. मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृ० 270-271।
7. त्रिलोकसार भूमिका, पृ० 5।



उत्तम संयम और महाव्रत

—आचार्य विद्यानन्द मुनिराज

“सवे हि ते संयम भावसुधी च इच्छति” —(सप्तम अशोक अभिलेख)

—निश्चय से सभी आत्मायें संयम और भावशुद्धि चाहते हैं।

संयम का जीवन में बहुत ऊँचा स्थान है। धर्म के क्षमा— आर्जव, मार्दव आदि सभी अंग संयमपूर्वक ही पालन किये जा सकते हैं। जैसे—क्षमा में क्रोध का संयम किया जाता है, मार्दव में कठोर-परिणामों का संयम किया जाता है, आर्जव में मायाचार का संयम विहित है, तो सत्य में मिथ्या का नियमन आवश्यक है। सारांश यह कि जैसे माला के प्रत्येक पुष्प में सूत्र पिरोया होता है, वैसे धर्म के सभी अंगों में संयम स्थित है। मन, वचन, काय के योग को संयम कहते हैं और कोई भी सत्कार्य त्रियोग सम्भाले बिना नहीं होता। कार्य की सुचास्ता तथा पूर्णता त्रियोग पर निर्भर है और त्रियोग का किसी पवित्र-लक्ष्य पर एकीभाव ही संयम है। इसी को सांकेतिक अभिव्यक्ति देते हुए ‘इन्द्रियनिरोधः संयमः’ कहा गया है।

इन्द्रियों की प्रवृत्ति बहुमुखी है। जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए सभी इन्द्रियों के धर्म (स्वभाव) सहायक होते हैं। तथापि क्रियासिद्धि के लिए उन्हें संयम तथा केन्द्रित करना आवश्यक होता है। यदि कार्य करते समय इन्द्रिय समूह इधर-उधर दौड़ता रहेगा, तो यह स्थिति ठीक वैसी होगी, जो रथ में जुटे हुए विभिन्न-दिशाओं में दौड़नेवाले अश्वों से उत्पन्न हो जाती है। ऐसे रथ में बैठा हुआ यात्री कभी निरापद नहीं रह सकता। नीतिकारों ने तो यहाँ तक कहा है कि “यदि पाँचों इन्द्रियों में से किसी एक इन्द्रिय में भी विकार हो जाए, तो उस मनुष्य की बुद्धि-बल-शक्ति वैसे ही क्षीण हो जाती है, जैसे छिद्र होने पर कलश में से पानी निकल जाता है। ‘पंचेन्द्रियस्य मर्त्यस्य छिद्रं चेदेकमिन्द्रियम्। ततोऽस्य भ्रवति प्रजादृतेः पात्रादिवोदकम्’। फिर जिन मनुष्यों की इन्द्रियक्षुधा इतनी बढी हुई हो कि रात्रिदिव पाँचों इन्द्रियों से भोगों का आस्वाद करते रहें, उनमें विनाश के चिह्न दिखायी दें, पतन होने लगे, तो क्या आश्चर्य?” इसी को लक्ष्य कर संयम की स्थूल-परिभाषा करते हुए इन्द्रियनिरोध को महत्त्वपूर्ण बताया गया है।

संस्कृतभाषा, जिसका यह शब्द (संयम) है, बड़ी वैज्ञानिक भारती है। ‘यम’ धातु का अर्थ ‘मैथुन’ या ‘विषयेच्छा’ है और ‘यम’ धातु का अर्थ ‘दमन’ या ‘संयम’ है।

‘भ’ के पश्चात् ‘म’ वर्ण आता है। ‘यम’ में जो फंस गया, उसका उद्धार नहीं, और जो ‘यम’ तक पहुँच गया, उसे यम का भय नहीं। अग्नि अग्नि को जला नहीं सकती और यम को यम मार नहीं सकता। इसी आशय से वैदिकों ने कहा कि ‘कालं कालेन पीडयन्’ ऋषि काल को काल से ही पीड़ित करते थे। जो स्वयं संयमशील नहीं हैं, उन्हें ही यम का भय है। संयमी-व्यक्ति तो घोषणा करता है कि ‘न मृत्यवे अवतस्थे कदाचन’ —मैं कभी मृत्यु के लिए नहीं बना। संयम के पालन से इच्छा मृत्यु होती है।

शास्त्रकारों ने कहा है कि ‘व्रत-समिति-कषायाणां दण्डानां तथेन्द्रियाणां पंचानाम्। धारणं-पालन-निग्रह-त्याग- जयाः संयमो भणितः।’ अर्थात् व्रतों का धारण, समितियों का पालन, कषायों का निग्रह, दण्डों का त्याग तथा पाँचों- इन्द्रियों को जीतना ‘उत्तम संयम’ कहा गया है। इस पर विचार किया जाए, तो सम्पूर्ण मुनिचर्या संयम के अन्तर्गत परिलक्षित होती है। मुनि के मूलगुणों की रक्षा संयम से ही सम्भव है।

संयम का पालन अपने आध्यात्मिक-कोष का संवर्धन है। जैसे संसार में लोग आर्थिक-उपार्जन कर ‘बैंकबैलेंस’ बढ़ाते हैं, वैसे संयमी अपने आत्मा को शुद्धोपयोग और शुभोपयोग में लगानेवाले द्रव्य को परिवर्धित करता है। जो लोग अपने रूप, बल, पराक्रम, बुद्धि तथा वीर्य को संसार में लगाते हैं, वे मानों अपनी पूंजी को जुये में हार रहे हैं। इन्द्रिय-विषयों ने जो रूप-राग की चौपड़ बिछा रखी है, उस पर उनके सदगुण, सदवित्त दांव पर लग रहे हैं। परन्तु आश्चर्य इस बात का है कि विषय-द्यूत में अपनी वीर्यरूप उत्तम-पूंजी को हारकर भी, गंवाकर भी लोग दुःखी नहीं होते। साधारण जुये में तो पराजित को दुःख होता देखा जाता है; परन्तु जो संयमी हैं, उनका धन सुरक्षित रहता है।

संयम से जो शक्ति प्राप्त होती है, संचय होता है; वह मानव जीवन को ऊँचा उठाती है। असंयम और संयम में यही मुख्य-भेद है। असंयम सीढ़ियों से नीचे उतरने का मार्ग है और और संयम ऊपर जाने का। ‘उन्नतं मानसं यस्य भाग्यं तस्य समुन्नतम्’ जिसका मन ऊँचा होता है, उसका परिणाम शुद्ध होता है। और मन की उच्चता परिणामों पर निर्भर है। संसार के प्राणियों को संचय की, परिग्रह की आदत है। परन्तु संयमरूप सुपरिग्रह का संचय करने की ओर उनका ध्यान नहीं है। संयम का संचय करने लगे, तो आज के बहुत से अभावों की दुष्ट-अनुभूति से बच सकते हैं।

संयम के विरोधी गुणों का वर्गीकरण करें, तो पता चलेगा कि आज के लोग उनके कितने वशीभूत हैं। शृंगार, विलास, मद्यमान, द्यूत, आहारविवेक-शून्यता, धूम्रपान, व्यभिचार, अब्रह्मचर्य, मिथ्या-भाषण इत्यादि शतशः इतने दुर्व्यसन हैं; जिन्होंने आज के मानव-जीवन को दबोच रखा है। संयम न रखनेवाले इनसे बहुत दुःखी हैं। यदि संयम धारण कर लें, तो इन दुर्व्याधियों से मुक्त हो सकते हैं। अनावश्यक खाने-पहनने की वस्तुओं का संचय करने से मनुष्य पर आर्थिक-भार बढ़ता है और यही सब अनर्थों की जड़ है। आज के मानव

ने अपनी आवश्यकतायें इतनी असंयत बना ली हैं कि वह अपने बुने हुए जाल में फंस गया है। इनसे त्राण का मार्ग संयम है। परिग्रह-परिमाण भी संयम का ही अंग है।

जैसे सुरक्षित धन संकट के समय में काम आता है, वैसे संयम मनुष्य-जीवन की प्रगति में सदैव सहायता करता है। जिसने संयम को अपना मित्र बना लिया है, उसके सभी मित्र बनने को तैयार रहते हैं। क्योंकि संयमी की आवश्यकतायें सीमित होती हैं, उसके साहचर्य से कोई परेशान नहीं होता।

भाषा संयम के बिना जो सुखपूर्वक संसार से पार उतरना चाहता है, वह बिना नौका के समुद्र तैरने की अभिलाषा रखता है। संयम महती-तपस्या है, महान्-व्रत है और पुरुष के पौरुष की परीक्षा है। संयम-मणि को बलवान् ही धारण करते हैं, दुर्बलों के हाथ में से उसे विषय-भोगरूप दस्यु छीन ले जाते हैं। संयम का नाम ही उत्तम-चारित्र है। मनुष्य को मनःसंयम, वाक्संयम और कायसंयम रखना चाहिए। मनःसंयम से इन्द्रिय-निरोध होता है। वाक्संयम से मिथ्या-भाषण-दोष तथा कायसंयम से उन्मार्गागमिता की निवृत्ति होती है। संयम के बिना जप, तप, ध्यान, सामायिक व्यर्थ हैं। संयम-साधना से ही उत्तम मोक्षसिद्धि की प्राप्ति होती है।



सम्यग्दर्शन बिन दुःख पाय

‘समत्त-रहिद-चित्तो, जोइस-मंतादिएहि वडुंतो।

णिरयदिसु बहुदुक्खं, पाविय पविसदि णिगोदम्मि।।’

—(आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति, भाग 1, 361, 262)

अर्थ :— सम्यग्दर्शन से विमुख चिन्तवाला ज्योतिष और मन्त्र-तन्त्रादिकों से आजीविका करता हुआ पुरुष नरकादि में बहुत दुःख पाकर परम्परा से निगोद में प्रवेश करता है।



सभाशास्त्र और वक्ता

‘सभायां न प्रवेष्टव्याप्रविष्टश्च न वदेद् वृथा।

अब्रुवत् विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्बिषी।।’ —(मनु० 8/13)

यानि:— या तो सभा-सम्मेलन में प्रवेश नहीं करना अच्छा है और यदि सभाओं में प्रवेश करना चाहते ही हैं, तो वहाँ धर्म और मर्यादायुक्त ‘वचन’ बोलना चाहिये। जो वक्ता या तो मौन रहता है अथवा तथ्य को विकृत करके बोलता है, तो वह महान् पाप का भागी होता है। मुनि, उपाध्याय और आचार्यों के जिह्वा पर तीन लगाम लगे हैं (सत्यमहाव्रत, भाषासमिति और वचनगुप्ति) इन तीन बंधनों को तोड़ना महान् अनर्थ का कारण है।



देवताओं की चिता

—आनन्द प्रकाश जैन

महान् विजेता सिकन्दर के भव्य-स्वागत के लिए कुमार आंभी ने तक्षशिला के द्वार खोल दिये। लंबे-चौड़े राजमार्ग पर, छज्जे और अटारियों पर झुके हुए संख्यातीत आश्चर्य और उत्सुकतापूर्ण नेत्रों में चकाचौंध उत्पन्न करती, सिकन्दर की दुर्दम्य सेनायें मार्च करती हुई चल रही थीं। विचित्र प्रकार के उनके लौह-कवच, अनदेखे हथियार और उन्मत्त अरबी घोड़ों को देख देख कर तक्षशिला के साधारणजन एक-दूसरे के कानों में कुछ न कुछ फुसफुसा रहे थे। थोड़ी-थोड़ी देर बाद दिखायी पड़ते यूनानी-सेनापतियों की ओर इशारा करके वे लोग बार-बार आसपास खड़े लोगों से पूछते थे, “यही है अलक्षेन्द्र, जिसने सहस्रों ब्राह्मणों को मौत के घाट उतार दिया है?”

और उत्तर मिलता था, “नहीं, यह अलक्षेन्द्र नहीं है।”

तब इसप्रकार अपनी उत्सुकता शांत करनेवालों के कल्पना-पट पर एक और ऐसे व्यक्ति की काल्पनिक-मूर्ति अंकित हो जाती थी, जिसमें मृत्यु के देवता यम ने सुंदरतम रूप में अवतार लिया था। यह वह देवता था, जो आंधी और तूफान बनकर पश्चिम से उठा था और राह में पड़नेवाले प्रत्येक उस प्राणी का अस्तित्व उसने इस दुनिया से उठा दिया था, जिसने ऊँचा करके खड़ा होने का साहस किया था।

तक्षशिला में आये सिकन्दर को दो दिन हो गये और आगे चढ़ाई के लिए नक्शे बन रहे थे कि तक्षशिला से दस मील दूर रहनेवाले पंद्रह मानवों ने विचित्र-उद्दंडता से उसकी शक्ति को चुनौती दी।

अपनी शक्ति की महत्ता स्थापित करने के लिए सिकन्दर ने तक्षशिला में एक बड़ा भारी दरबार किया था, जिसमें आंभी के अधीन सभी राजाओं को निमंत्रण मिला था। उस दरबार का सबसे बड़ा उद्देश्य था भारत के भूपतियों के सामने यूनानी सम्राट् के प्रताप का दिग्दर्शन। इस दरबार में उसके सामने झुक जानेवालों को यूनानी भेंट दी जानेवाली थी और विद्रोहियों को ऐसे दंड दिये जाने थे, जिनसे भावी-विद्रोहियों का रोम-रोम काँप जाये।

इस अवस्था में सिकन्दर के एक उपसेनापति ने दरबार में उपस्थित होकर अपने स्वामी के प्रति सिर झुकाया और निवेदन किया, “तक्षशिला के कुछ साधु महान् विजेता की आज्ञा

मानने से इनकार करते हैं।”

सारा दरबार ठगा-सा रह गया। सिकन्दर के माथे पर बल पड़ गये। सबको लगा जैसे यमराज विशिष्ट होकर तक्षशिला के प्रांगण में चक्कर काट रहे हैं। उसने मुट्ठियाँ भींचकर कहा, “उन्हें हमारे सामने पेश करो।”

“वे साधु नगे हैं,” उपसेनापति ने कहा, “महान् सिकन्दर की सेवा में उपस्थित किये जाने के योग्य नहीं हैं। साथ ही वे अपने स्थान से हिलने से भी इनकार करते हैं। वे कहते हैं, जिन्हें उनके दर्शन करने की इच्छा हो, वे ही उनकी सेवा में उपस्थित हों।”

सभी व्यक्तियों की निगाहें सिकन्दर के मुख पर जम गयी। इस अवहेलना का केवल एक ही परिणाम होनेवाला था—हत्या, मृत्यु और विनाश। आंभी के द्विभाषिये ने उनके कान में सिकन्दर के उपसेनापति के शब्द दोहराये और वह चौंक उठा। उसने देखा कि आक्रमणकारी का चेहरा तमतमा उठा। इससे पहले कि वह क्रोध में कुछ आदेश देता, आंभी उठा और बोला, “अलक्षेन्द्र का प्रताप दिन दूना और रात चौगुना बढ़े। वे साधु, जिन्होंने अलक्षेन्द्र की अवहेलना की है, इस संसार से परे के प्राणी हैं। वे संसार के सुख-दुःख, मोह-माया और जीवन-मरण की चिंता से दूर हैं। साथ ही वे असंख्य भारतीयों के आध्यात्मिक गुरु हैं। यदि महान् सिकन्दर ने अपने क्रोध का विद्युत्-प्रहार उन पर किया, तो सारा भारत भभक उठेगा और उसके निवासी बौखला जायेंगे। मुझे पूरी आशा है कि अलक्षेन्द्र की महत्ता व्यर्थ के हत्याकांड में अपना गौरव नष्ट नहीं करेगी।”

सिकन्दर ने आंभी का एक-एक शब्द सुना। देखते-देखते सूर्य के ताप में शीतलता आ गयी। उसने अपने उपसेनापति की ओर लक्ष्य करके कहा, “हम वीरों को धरती पर सुलाते हैं, कायरों को नहीं। खाली हाथ सिकन्दर का सामना करनेवाला पागल के सिवा और कुछ नहीं है। हम इस शर्त के साथ उन पागल साधुओं को माफ करते हैं कि वे हमारे हजूर में आकर हमें अपना दर्शन बतायें। उनके दर्शन से महान् अरस्तू का मनोरंजन होगा।”

आंभी खतरा बिलकुल दूर नहीं हुआ था। आंभी ने कहा, “यूनानाधीश ! इस प्रकार उन साधुओं को यहाँ नहीं लाया सकता। बुद्धिबल को केवल बुद्धिबल ही परास्त कर सकता है। आप यूनान के दर्शन के किसी प्रतिनिधि को उनके पास भेजें, तो संभव है वे आ सकें। यदि उन्हें लाने के लिए किसी तरह की जोर-जबरदस्ती उनके ऊपर की गयी, तो वे इसे मानवी-उपसर्ग समझकर मौन धारण कर लेंगे और फिर उनकी जुबान नरक की यातना भी नहीं खुलवा सकेगी।”

सिकन्दर के दायें-बायें परडीकस, सैल्यूकस, फिलिप और नियारकस जैसे शक्तिशाली सामंत और सेनापति सीना ताने खड़े थे। आसपास इधर-उधर यूनान की अतुल-शक्ति के ये प्रतीक सिकन्दर की महत्ता और उसके अधिकार की घोषणा कर रहे थे। वह हँसा।

“महाराज आर्मीस ! यूनान बुद्धिबल में भी संसार के नेता हैं,” वह एक यूनानी सामंत की ओर घूमा। “ओनेसिक्राइटस ! तुम महाराज आर्मीस के साथ जाकर उन साधुओं को

हमारे हज़ूर में लाओगे। यह विरोध हमारा नहीं, महान् अरस्तू का है, और तुम उनकी बुद्धि का प्रतिनिधित्व अच्छी तरह कर सकते हो।”

ओनेसिक्राइटस ने गरदन झुकायी और कहा, “महाराज ! मैं महान् अरस्तू की निधि की रक्षा करूँगा।”

निमिष-मात्र में सारी यवन-सेनाओं में उन अद्भुत-साधुओं की चर्चा फैल गयी, जिन्होंने शक्ति के देवता की उपेक्षा की थी। इस उपेक्षा के पीछे जो दार्शनिक-शक्ति थी, उसे जानने के लिए प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक ओनेसिक्राइटस व्यग्र हो उठा।

राजसभा समाप्त हो जाने पर ओनेसिक्राइटस के जाने से पहले सिकन्दर ने उसे अपनी सेवा में बुलवाया। उसके कंधों पर हाथ रखकर यूनानी विजेता बोला, “तुम समझ रहे हो, यह यूनान की बुद्धि-परीक्षा है। हमने शस्त्र के बल से पृथ्वी का आधा-भाग जीता है और शेष आधा हमारे कदम चूमने के लिए सिमटता आ रहा है। यदि तुमने इस जीती हुई पृथ्वी की बुद्धि को जीत लिया, तो यूनान की सत्ता अमर हो जायेगी।”

ओनेसिक्राइटस ने सिर झुकाया, “यूनान का दर्शन अजेय है, अविचल है। जुपिटर का बेटा सिकन्दर उसका रक्षक है।”

फिर सिकन्दर ने अपने गृह-भाई के साथ एक परिहास किया, “हम जानते हैं कि तुम्हारी आधी और उत्तम-बुद्धि हम फारस में ही छोड़ आये हैं। लेकिन हमारा विचार है कि इस अवसर के लिए तुम्हारी वर्तमान-शक्ति ही काफी होगी।”

ओनेसिक्राइटस की वह आधी-बुद्धि यूनानी-सौंदर्य की सर्वोत्तम प्रतीक उसकी रूपसी पत्नी हेलेना थी, जिसे भारत आते समय सिकन्दर ने मार्ग की कठिनाइयों के विचार से फारस में ही रहने को विवश किया था।

महत्ताशाली स्वामी से परिहास पाकर ओनेसिक्राइटस को अपनी शक्ति के प्रति गर्व हुआ और वह मुस्करा उठा।

महाराज आंभी के साथ यूनानी दार्शनिक पूरे साज-बाज के साथ अपने आध्यात्मिक-प्रतिद्विष्टियों को परास्त करने के लिए चला। तक्षशिला से दस मील दूर जब यह छोटा-सा राजसी-दल अपने लक्ष्य-स्थान पर पहुँचा, तो उन्होंने देखा कि जेठ की तपती दुपहरी में कुछ शिलाखंडों पर पंद्रह नग्न-मुनि आँखे मीचे साधना में तल्लीन थे। इन लोगों को आगे बढ़ते जानकर महाराज आंभी ने कहा, “सावधान ! इस पवित्र-स्थान में जूते पहनकर जाना वर्जित है।” सब लोग सहमकर खड़े रह गये। तत्कालीन तीन दुभाषिये सामने आये। उन्होंने महाराज के शब्दों का संस्कृत से अरबी, अरबी से लेटिन और लेटिन से यूनानी-भाषा में रूपांतर कर दिया। ओनेसिक्राइटस ने रुष्ट होकर आंभी की ओर देखा। आंभी ने कहा, “यहाँ की रीति है। विद्वान् लोग जहाँ जाते हैं, वहीँ की रीति-नीति का पालन करते हैं।”

यूनानी दार्शनिक ने अपने एक पैर का जूता उतारकर पैर पत्थर के सपाट फर्श पर

रखा ही था कि उसके मुँह से एक 'सी' की आवाज़ निकली और तत्काल उसका पैर अपने आवरण के भीतर छिप गया। वह पत्थर लाल तवे की तरह तप रहा था। उसने आश्चर्य के साथ उन मुनियों की ओर देखा, जो उन पत्थरों पर नंगे बदन बैठकर ज्ञान का ओर-छोर पकड़ने के लिए तपस्या कर रहे थे। उसकी आँखों ने आज तक इस तरह का चमत्कार नहीं देखा था। वह बोला, "महाराज आर्मीस ! आपको विश्वास है कि यह किसी तरह का 'शौबदा' तो नहीं है?"

"नहीं," आंभी ने कहा, "लेकिन लोग कहते हैं कि देवता इनकी रक्षा करते हैं। यदि ऐसी दैवी-शक्ति हो, तो उसे शौबदे का नाम नहीं दिया जा सकता।"

ओनेसिकाइटस की आँखों में साधुओं के प्रति प्रशंसा का भाव उदय हुआ। वह अपने दुभाषिये से बोला, "इनसे पूछो कि ये लोग नंगे क्यों हैं और यह किस तरह की साधना है, जो अकेले बिना किसी साधन के जंगल में बैठकर की जाती है।"

दुभाषिये ने तुरंत उसके प्रश्न का उत्तर कर दिया।

एक मुनि ने उत्तर दिया, "सब प्रकार की हिंसा का त्याग करके ही मनुष्य मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। प्रत्येक कृत्रिम वस्तु को बनाने में मनुष्य अगणित जीवों की हिंसा करता है। उस हिंसा को स्वयं करने से, किसी से कराने से अथवा किसी की कि हुई हिंसा का अनुमोदन करने से या उसका परिणाम ग्रहण करने से हिंसा का समान पातक लगता है। वस्त्रों के बनाने में भी इसीप्रकार असंख्य-जीवों की हिंसा होती है। मनुष्य की आत्मा पाप और पुण्य के रूप में कर्मों के बंधनों से जकड़ी हुई संसार की चौरासी लाख योनियों में भ्रमण कर रही है। जन्म-मरण के अपार दुःख और बंधन से छुटकारा पाने के लिए और अखंड आनंद के स्थान मोक्ष की प्राप्ति के लिए इन कर्मों के बंधनों से छुटकारा पाना आवश्यक है। शरीर को निष्क्रिय रखकर और ध्यान को एकाग्र करके, शरीर पर पड़नेवाले दुःखों को निर्विकार भाव से सहने से कर्मफल नष्ट होते रहते हैं और नवीन-कर्मों की उत्पत्ति नहीं होती। यही हमारी साधना है... लेकिन तुम कौन हो?"

"तुम लोगों का विचार कितना भ्रांतिपूर्ण है," यूनानी दार्शनिक ने उनकी बुद्धि पर तरस खाते हुए कहा, "मैं यूनान का निवासी हूँ, विश्वगुरु अरस्तू का शिष्य हूँ और तुम्हें सही-मार्ग सुझाने के साथ-साथ तुम लोगों की विचित्र-बुद्धि का रहस्य जानने आया हूँ। मेरा नाम ओनेसिकाइटस है।"

"आश्चर्य है!" मुनि ने कहा, "इतने विद्वान् हेते हुए भी तुम लोग वस्त्र-आभूषण जैसी अनावश्यक वस्तुओं के लोभ में पड़े हुए हो। जब तक इन वस्तुओं का मोह तुम्हें सताता रहेगा, तुम कभी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकोगे। तुम हमें ज्ञान की शिक्षा देने आये हो। हमें सच्चा ज्ञान प्राप्त हो चुका है। भगवान् जिनदेव महावीर की कृपा से ज्ञान आज शत-शत दिशाओं में फूटकर मानवमात्र को मुक्ति का संदेश दे रहा है। तुम हमारा रहस्य जानने आये हो। जब तक लौहकवच, वस्त्राभूषण, शस्त्र और केश व पदत्राण आदि शरीर के ऊपर

लदे रहेंगे, तुम्हें मुक्ति के रहस्य का पता नहीं लगेगा।”

यह स्पष्ट वर्जना थी। ओनेसिक्राइटस के लिए प्रबल-प्रतिद्वंद्वी की यह एक चुनौती थी। उसने तिलमिला कर कहा, “जिन वस्तुओं को तुम अनावश्यक बता रहे हो, वे प्राकृतिक-विपत्तियों से मनुष्य की रक्षा करती हैं और इसप्रकार उसे उन्नति की ओर बढ़ने के लिए शक्ति देती हैं। जीव, आत्मा, हिंसा, पातक, कर्मफल, पुण्य, मोक्ष.... समाज से दूर जंगल में बैठकर, बिना किसी प्रयोगशाला के, तुम लोगों ने जो मूर्खतापूर्ण कल्पनयें स्थापित की हैं, उनसे तुम लोग स्वयं भी कष्ट पाते हो और अपने देश के मानवों में भी भय और आशंकाओं का संचार करते हो। इस दुनिया से दूर की दुनिया को जीतनेवाले पहले इस संसार को जीतते हैं। यदि तुमसे यह संसार नहीं जीता जाता, तो जीतनेवालों के दर्शन करो। संभव है, उनसे तुम्हें कुछ प्रेरणा मिले।”

“तुम लोग म्लेंच्छ हो,” मुनि-महाराज ने कहा। शांतभाव से वह बोले, “तुम लोगों की बुद्धि सच्चे-धर्म को नहीं जान सकती। हमारा मार्ग निश्चित है। जिसे जिनदेव का ज्ञान प्राप्त करना हो, वह जिज्ञासु बनकर हमारी तरह साधना करे; तभी उसे सच्चा-ज्ञान प्राप्त हो सकता है। सच्चे-ज्ञान को प्राप्त करने से पहले सच्चे-धर्म में विश्वास करना होगा, तभी मोक्ष मिलेगा।”

यूनानी दार्शनिक आँखें फाड़कर इन विचित्र-साधुओं की ओर देखता रह गया। वह बोला, “आश्चर्य है कि जिस वस्तु का ज्ञान तक नहीं, पहले उस पर विश्वास करने से ही तुम्हारे कल्पित-मोक्ष तक पहुँचा जा सकता है। मालूम होता है कि तुम लोगों ने बुद्धि का दिवाला निकालकर इस तपस्या के बहाने आत्मघात पर कर्म कसी है। तुम अपने विश्वास को अपने पास ही रखो। यूनान की प्रयोगशालाओं में रात-दिन सच्चे ज्ञान का उद्भव हो रहा है। हम लोग पहले ज्ञान प्राप्त करते हैं, उसे तरह-तरह की कसौटियों पर कसते हैं, तब उस पर उस समय तक विश्वास करने के लिए तैयार होते हैं, जब तक कोई बुद्धिमान् व्यक्ति उसे गलत सिद्ध न कर दे। महान् विजेता सिकन्दर तुम लोगों को उन प्रयोगशालाओं में सच्चे-ज्ञान के दर्शन के लिए एक ऐसा अवसर दे रहा है, जो इस संसार में विरलों को ही प्राप्त होता है।”

मुनि-महाराज ने मौन धारण कर लिया। भगवान् जिनदेव से ऊपर किसी व्यक्ति की महता उन्हें स्वीकार नहीं थी। ओनेसिक्राइटस कुछ देर तक प्रतीक्षा में खड़ा रहा। तब आंभी ने उसे बताया कि अब उसके प्रश्न का उत्तर नहीं मिलेगा।

यूनानी-दार्शनिक क्षुब्ध हो गया। उसने एक बार दयापूर्ण-दृष्टि से उन मुनियों की ओर देखा, फिर अपने एक अनुचर को लक्ष्य करके बोला, “इन संवादों को लिख लो, ताकि महान् विजेता सिकन्दर भी इन लोगों की बुद्धि पर तरस खायें। चलिये, महाराज आर्मीस ! मुझे आपके आध्यात्मिक-गुरुओं से बहुत बड़ी निराशा हुई... ज्ञान से पहले विश्वास, आश्चर्य है।”

—(साभार उद्धृत 'वैशालिक की छाया में', पृ० 67-73)



प्राकृत-ग्रन्थों में जिनलिंगों का स्वरूप

—डॉ० राजेन्द्र कुमार बंसल

प्राकृतभाषा के समस्त वाङ्मय में शौरसेनी प्राकृतभाषा में निबद्ध निर्ग्रन्थ-परम्परा के आगम-ग्रन्थों की अपनी अलग महत्ता एवं प्रतिष्ठा है। भाषिक-प्रयोगों के वैशिष्ट्य के साथ-साथ विषय-प्ररूपण भी उनमें अतिविशिष्ट है। अनगारों के विषय में इन ग्रन्थों में जो महत्त्वपूर्ण दिशानिर्देश दिये गये हैं, वे आज के समस्त मुनिसंघों के लिए एवं विद्वानों, श्रावकों, जिज्ञासुओं के लिए अवश्य पठनीय, मननीय एवं विचारणीय हैं। प्रस्तुत आलेख में विद्वान् लेखक ने मात्र तथ्यपरक-रीति से जो विचार-बिन्दु प्रस्तुत किये हैं, वे इस दिशा में संक्षिप्तकृत-सामग्री का व्यवस्थितरूप कहे जा सकते हैं।

—सम्पादक

विश्व के समस्त धर्म-दर्शनों में जैनदर्शन ही समस्त जीवात्माओं को स्वभाव से वीतराग, सर्वज्ञ एवं परम आनन्दरूप बताकर उसकी प्राप्ति का मार्ग बताता है। दुःख के जनक हैं—कुज्ञान, कषाय, कंचन और कामिनी की अभिलाषा। इसे ही 'पर-समय' कहा है। आनन्द-प्राप्ति का मार्ग है आत्मज्ञानपूर्वक कषाय, कंचन, कामिनी का परित्याग एवं शुद्धोपयोगरूप आत्मध्यान। यही 'स्व-समय' है। इसीकारण मुक्ति का आराधक साधु परिग्रह और स्त्री का त्यागी होता ही है।¹

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने जैनदर्शन में मात्र तीन वेष-लिंग स्वीकार किये हैं—पहला जिनदेवस्वरूप साधु, दूसरा उत्कृष्ट श्रावक (ऐलक) एवं तीसरा जघन्य पद में स्थित आर्यिका। जिनमत में चौथा भेष नहीं है।²

1. वंदनयोग्य साधु :

आचार्य वट्टकेर के अनुसार साधु, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और शक्ति को अच्छी तरह समझकर भलीप्रकार ध्यान, अध्ययन और चारित्र्य का आचरण करते हैं।³ ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न और ध्यान, अध्ययन और तप से युक्त तथा कषाय और गौरव से रहित मुनि शीघ्र ही संसार को पार कर लेते हैं।⁴ विनयसहित मुनि स्वाध्याय करते हुये पंचेन्द्रियों को संकुचित कर तीन गुप्ति-युक्त और एकाग्रमना हो जाते हैं। गणधरदेवादि ने कहा कि अंतरंग-बहिरंग बारह प्रकार के तपों में स्वाध्याय समान तपःकर्म न है और न होगा

ही। स्वाध्याय ही परमतप है।⁵ जिसप्रकार धागासहित सुई नष्ट नहीं होती, उसीप्रकार आगमज्ञानसहित साधु प्रमाददोष से भी नष्ट नहीं होता।⁶ आगमहीन आचार्य अपने को और दूसरों को भी नष्ट करता है।⁷ साधु समभाववाले होते हैं। शत्रु-मित्र, निंदा-प्रशंसा, लाभ-अलाभ और तृण-कंचन में उनका समभाव होता है।⁸ ऐसे विरक्त, निर्ममत्व, निरारम्भी, संयम, समिति, ध्यान एवं समाधि में अप्रमत्त-समभावी मुनि ही एकभाववतारी लौकान्तिक देव होते हैं।⁹

2. ग्यारह प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक :

जिनमत में दूसरा भेष ग्यारह प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक-ऐलक का होता है। इनके पास एक वस्त्र या कौपीन होता है। पात्र या करपात्र में भिक्षा-भोजन करते हैं। मौन या भाषासमितिरूप वचन बोलते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान संयुक्त हैं। ऐसे उत्कृष्ट श्रावक ऐलक-क्षुल्लक 'इच्छाकार' करने योग्य हैं। 'इच्छामि' या इच्छाकार का अर्थ अपने आपको, आत्मा को चाहना है।¹⁰ जिसे आत्म इष्ट नहीं, उसे सिद्धि नहीं, अतः हे भव्य जीवो! आत्मा की श्रद्धा करो, इसका श्रद्धान करो और मन-वचन-काय से स्वरूप में रुचिकर मोक्ष प्राप्त करो।¹¹

3. आर्यिका :

जिनमत का तीसरा पद नारी का 'आर्यिका' वेष है। आर्यिका एकवस्त्र धारण करती है और स-वस्त्र दिन में एक बार भोजन करती है। क्षुल्लिका दो वस्त्र रखती है।¹² जिनमत में नग्नपना ही मोक्षमार्ग है। वस्त्रधारण करनेवाले मुक्त नहीं होता। नारी के अंगों में सूक्ष्मकाय, दृष्टि अगोचर त्रस-जीवों की उत्पत्ति होते रहने के कारण वे दीक्षा के अयोग्य हैं। चित्त की चंचलता के कारण उन्हें आत्मध्यान नहीं होता, फिर भी जिनमत को श्रद्धा से शुद्ध होने से मोक्षमार्गी हैं और तीव्र तपश्चरण के कारण पापरहित हैं, जिससे स्वर्गादिक प्राप्त करती हैं।¹³

यद्यपि आर्यिका का पंचम गुणस्थान 'देशव्रत' होता है फिर भी उपचार से आचार्यों ने साधुओं के समान उनके महाव्रत मान लिये हैं।¹⁴ मात्र वे वृक्षमूलयोग, आतायनयोग, प्रतिमायोग, वर्षायोग तथा एकान्तवास आदि नहीं करती।¹⁵ वे निरन्तर पढ़ने, पाठ करने, सुनने, कहने और अनुप्रेक्षाओं के चितवन में तथा तप, विनय और संयम में नित्य ही उद्यम करती हुई ज्ञानाभ्यास में तत्पर रहती हैं।¹⁶ शब्द से उनकी विनय की जाती है।

साधु आर्यिका कितने-दूर कितने पास :

साधु और आर्यिका दोनों यद्यपि वीतराग-मार्ग के पथिक हैं, फिर भी काम-स्वभाव की दृष्टि से एक घी और दूसरा अग्नि के समान है। अतः इनके मध्य कितनी निकटता और कितनी दूरी हो— इसका विशद वर्णन आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार में और आचार्य शिवकोटि ने 'भगवती आराधना' में किया है, जिसका सार निम्नप्रकार है :—

आचार्य एवं साधु से क्रमशः पाँच और सात हाथ दूरी से वंदना

पंच-छः सत्त हत्थे सूरी अज्जावगो य साधू य ।

परिहरिऊणज्जाओ गवासणेणेव वंदंति ।।

अर्थ :— आर्यिकायें आचार्य को पाँच हाथ से, उपाध्याय को छह हाथ से और साधु को सात हाथ से दूर रहकर 'गवासन-मुद्रा' में ही वंदना करती हैं। स्पष्ट है कि साधुओं को नारी/नारीवर्ग से सात हाथ की दूरी बनाये रखना चाहिये।¹⁷

एकान्त-मिलन एवं वार्ता का निषेध

अज्जागमणे कालेण अत्थिदव्वं तधेव एँक्केण ।

ताहिं पुण सल्लावो ण य कादव्वो अकज्जेण ।।

तासिं पुण पुच्छाओ इत्थिक्खे णय कहिज्ज एँक्को दु ।

गणिणी परओ किच्चा जदि पुच्छइ तो कहेदव्वं ।।

अर्थ :— आर्यिकाओं के आने के समय मुनि को अकेले नहीं बैठना चाहिये। इसीप्रकार उनके साथ बिना प्रयोजन वार्तालाप भी नहीं करना चाहिये। इनमें से यदि अकेली आर्यिका प्रश्न करे, तो अकेला मुनि उत्तर नहीं दे। यदि गणिनी को आगे करके वह प्रश्न पूछती है, तभी उसका उत्तर देना चाहिये। तात्पर्य यह कि साधु-आर्यिका असमय में और अकेले में न तो मिलें और न ही प्रयोजनहीन चर्चा करें।¹⁸

तरुण-तरुणी की वार्ता का दुष्परिणाम

तरुणो तरुणीए सह कहा वसल्लावणं च जदि कुज्जा ।

आणाकोवादी या पंचवि दोसा कदा तेण ।।

अर्थ :— तरुण मुनि तरुणी के साथ यदि (प्रेम) कथा या वार्तालाप करता है, तो उस मुनि ने आज्ञाकोप, अनवस्था, मिथ्यात्व-आराधना, आत्मनाश और संयम-विराधना — इन पाँच दोषों को किया है, ऐसा समझना चाहिये। इसका परिणाम सर्वनाश ही है।¹⁹

आर्यिकाओं के आवास में मुनिचर्या का निषेध और उसके परिणाम

णो कप्पदि विरदाणं विरदीणमुवासयहि म चिट्ठेदुं ।

तत्थ णिसेँज्ज-उट्ठण-सज्जायाहार-भिक्षवोसरणे ।।

अर्थ :— आर्यिकाओं के निवास-स्थल (वसतिका) में मुनियों का रहना और वहाँ पर बैठना, लेटना, स्वाध्याय आहार, भिक्षा व कायोत्सर्ग करना युक्त नहीं है। स्पष्ट है कि आर्यिकाओं के निवासस्थल पर मुनियों का निवास निषिद्ध है।²⁰

'मूलाचार' के 'समयसाराधिकार' के क्षेत्रशुद्धि की गाथा-क्रमांक 954 में पुनः उक्त तथ्य की पुष्टि की है। यह गाथा उक्त गाथा 180 के प्रायः समान ही है और गाथा-क्रमांक 952 में निर्देशित किया है कि धीर-मुनि पर्वतों की कन्दरा, श्मशान, शून्य-मकान और वृक्षों के नीचे आवास करें।

आर्यिका-मुनि सहवास का दुष्परिणाम

‘मूलाचार’ की गाथा 181 एवं 182 में आर्यिकाओं और मुनियों के संसर्ग का दुष्परिणाम दर्शाया है, जो इसप्रकार है—

“काम से मलिन चित्त श्रमण, स्थविर, चिरदीक्षित, आचार्य, बहुश्रुत तथा तपस्वी को भी नहीं गिनता है, कुल का विनाश कर देता है।²¹ वह मुनि-कन्या, विधवा-रानी, स्वेच्छाचारिणी तथा तपस्विनी-महिला का आश्रय लेता हुआ तत्काल ही उसमें अपवाद को प्राप्त होता है।²²

‘भगवती आराधना’ की गाथा 341 दिशाबोधक है—

खेलपडिदमप्पाणं ण तरदि जह मच्छिया विमोचेदुं ।

अज्जाणचरो ण तरदि तह अप्पाणं वि मोचेदुं ।।

अर्थ :— जैसे मनुष्य के कफ में पड़ी मक्खी उससे निकलने में असमर्थ होती है, वैसे ही आर्यिका के साथ परिचय किया मुनि छुटकारा नहीं पा सकता।²³

आर्यिकाओं की दीक्षा-आचार्य के गुण

जो गम्भीर हैं, स्थिरचित्त हैं, मित बोलते हैं, अल्प कौतुकी हैं, चिरदीक्षित हैं और तत्त्वों के ज्ञाता हैं—ऐसे मुनि आर्यिकाओं के आचार्य होते हैं। इन गुणों से रहित आचार्य से चार काल अर्थात् दीक्षाकाल, शिक्षाकाल, गणपोषण और आत्मसंस्कार की विराधना होती है और संघ का विनाश हो जाता है।²⁴ इस दृष्टि से योग्य-आचार्य से ही नारियों को दीक्षा लेना उचित है।

आर्यिकाओं का आवास कैसा हो, वे कहाँ और कैसे जावें ?

आर्यिकाओं के उपाश्रय का आवास के सम्बन्ध में ‘मूलाचार’ में स्पष्ट निर्देश हैं, जो इसप्रकार है :— जो गृहस्थों से विरित न हो, जिसमें चोर आदि का आना-जाना न हो और जो विशुद्ध-संचरण अर्थात् जहाँ मल विर्सजन गमनागमन एवं शास्त्र-स्वाध्याय आदि योग्य हो, ऐसे आवास (वसतिका) में दो या तीन या बहुत-सी आर्यिका एक साथ रहती हैं।²⁵ आर्यिकाओं को बिना कार्य के परगृह नहीं जाना चाहिये और अवश्य जाने योग्य कार्य में गणिनी से पूछकर साथ में मिलकर ही जाना चाहिये।²⁶ आर्यिकाओं को रोना, नहलाना, खिलाना, भोजन पकाना, सूत कातना, छह प्रकार का आरम्भ करना, यतियों के पैर मालिश करना, धोना और गीत गाना आदि कार्य नहीं करना चाहिये।²⁷

आहार-हेतु तीन या पाँच या सात आर्यिकायें आपस में रक्षा करती हुई वृद्धा-आर्यिकाओं के साथ मिलकर हमेशा आहार को निकलना युक्त हैं।²⁸

मुनि-आर्यिका के संसर्ग-निषेध का कारण !

‘मूलाचार’ में मुनि-आर्यिका एवं अन्य नारियों के संसर्ग का निषेध कर उसका कारण भी व्यक्त किया है, जिसो समझना जरूरी है। कारण को जाने बिना निर्णय समीचीन नहीं होता।

यह जीव धन, जीवन, रसना-इन्द्रिय और कामेन्द्रिय के निमित्त से हमेशा अनंतबार स्वयं मरता है और अन्यो को भी मारता है।²⁹ चार-चार अंगुल की जिह्वा और कामेन्द्रिय

अशु है और इनसे जीव निश्चितरूप से दुःख प्राप्त करता है।³⁰ अतः हे मुनि ! तुम इसी समय इस रसनाइन्द्रिय और काम-इन्द्रिय को जीतो।³¹ काठ (लेप, चित्र आदि कलाकृति) में बने हुये स्त्रीरूप से भी हमेशा डरना चाहिये, क्योंकि इनसे जीव के मन में क्षोभ हो जाता है।³² पुरुष घी के भरे घाट जैसे है, और स्त्री जलती हुई अग्नि जैसी है। स्त्रियों के समीप हुये पुरुष नष्ट हो गये हैं, तथा इनसे विरक्त-पुरुष मोक्ष को प्राप्त हुये हैं।³³

माता, बहिन, पुत्री, मूक व वृद्धस्त्रियों से भी नित्य ही डरना चाहिये; क्योंकि स्त्रीरूप में सभी स्त्रियां अग्नि के समान सर्वत्र जलाती हैं।³⁴ हाथ-पैर से लूली-लंगड़ी, कान-नाक से हीन तथा वस्त्ररहित स्त्रियों से भी दूर रहना चाहिये।³⁵

ब्रह्मचर्य मन-वचन-काय की अपेक्षा तीन प्रकार का है, तथा द्रव्य-भाव के भेद से दो प्रकार है।³⁶ भाव से विरत मनुष्य ही विरत है। द्रव्य-विरत से मुक्ति नहीं होती। इसलिये पंचेन्द्रिय के विषयों में रमण करनेवाले मन को वश में करना चाहिये।³⁷ अब्रह्म के दश भेद हैं—अत्यधिक भोजन करना, स्नान-तैलमर्दन आदि शरीर संस्कार, केशर-कस्तूरी गन्धमाला, गीत और वाद्य सुनना, कोमल गद्दे एवं कामोद्रेकपूर्ण एकान्त-स्थल में रहना, स्त्री-संसर्ग, सुवर्ण वस्त्र आदि धनसंग्रह, पूर्वैरति-रमण, पंचेन्द्रियों के विषयों में अनुराग तथा पौष्टिक रसों का सेवन।³⁸ जो महात्मा-पुरुष महादुःखों के निवारण-हेतु दश-प्रकार के अब्रह्म का परिहार करता है, वह दृढ़-ब्रह्मचारी होता है।³⁹

'भगवती आराधना' में गाथा 1092 से 1113 तक स्त्री-पुरुष-संसर्ग का निषेध किया है, जो पठनीय और मननीय है।

आगमानुसार आचरण करने का सुफल :

'मूलाचार' ग्रन्थ के 'सामाचाराधिकार' का उपसंहार करते हुये आचार्य वट्टकेर घोषणा करते हैं कि "उपर्युक्तविधान रूप चर्या का जो साधु और आर्थिकायें आचरण करते हैं, वे जगत् से पूजा, यश और सुख को प्राप्त कर सिद्ध हो जाते हैं।"⁴⁰ प्रकारान्तर से उक्त विधान की अवज्ञा-अवमानना से अपयश, दुःख और संसार-भ्रमण होता है, जो विचारणीय है। परिग्रह और स्त्री-त्याग करके साधु शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है।⁴¹

उपसंहार :

जिनेन्द्र भगवान् का वीतरागमार्ग विशिष्टमार्ग है। अंतरंग में जिनदर्शनरूप आत्म-श्रद्धान-आत्मरुचि होने पर उक्तानुसार जिनभेष सहज ही बाह्य में प्रकट होते हैं। मुनिभेष में अंतरंग में तीन कषाय-चौकड़ी के अभावपूर्वक परिणति प्रकट होती है और बाह्य में सम्पूर्ण परिग्रह एवं स्त्रीत्याग-सहित आगमप्रणीत आचरण होता है। इसीप्रकार ग्यारह प्रतिमाधारी ऐलक-आर्थिका आदि के भेष में अंतरंग में दो कषाय-चौकड़ी के अभावपूर्वक विशुद्ध-परिणति प्रकट होकर आगमानुसार बाह्य-आचरण होता है तथा आचार्य, मुनियों, आर्थिका तथा नर-नारीजगत् के प्रति 'मूलाचार' के निर्देशों के अनुरूप मर्यादित, संयमित व्यवहार होता

है; तभी सभी जन आदरणीय-अभिनन्दनीय-वन्दनीय होते हैं।

वस्तुस्वरूप की उक्त सहज-व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में आचार्य कुंदकुंददेव ने 'समयसार प्राभृत' में घोषणा की है कि "बहुत प्रकार के पाखण्डी (मुनि) लिंगों अथवा गृहस्थ-लिंगों को धारण करके मूढजन यह कहते हैं कि 'यह लिंग मोक्षमार्ग है।' परन्तु लिंग मोक्षमार्ग नहीं है; क्योंकि अरहंतदेव लिंग को छोड़कर अर्थात् लिंग पर से दृष्टि हटाकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करते हैं। मुनियों और गृहस्थों के लिंग (चिह्न) मोक्षमार्ग नहीं हैं, क्योंकि जिनदेव ने दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्षमार्ग कहा है।" आचार्यदेव कहते हैं कि गृहस्थों और मुनियों द्वारा ग्रहण किये गये लिंगों को छोड़कर, उनमें से एकत्वबुद्धि तोड़कर मोक्षमार्गरूप दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्वयं को लगाओ।

सन्दर्भग्रंथ-सूची

1. सन्दर्भ क्रं. 2, 3 आचार्य कुंदकुंद, दंसणपाहुड, गाथा 18।
3. सन्दर्भ क्रं. 1, 5, 6, 7, 8, एवं 9 आचार्य वट्टकेर, मूलाचार, गाथा क्रमशः 1008, 1007, 970, 971/72, 973 एवं 965।
4. सन्दर्भ क्रं. 10 आचार्य कुंदकुंद, बोधपाहुड, गाथा 49।
5. सन्दर्भ क्रं. 11 आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ती, महाधिकार आठ गाथा 669-674।
6. सन्दर्भ क्रं. 12, 13, 14 एवं 15 आचार्य कुंदकुंद, सुत्तपाहुड, गाथा क्रमशः 21 एवं 13-15, 16, 22, 24-26।
7. सन्दर्भ क्रं. 16 आचार्य वीरनन्दी, आचारशास्त्र, अध्याय 2, श्लोक 89।
8. सन्दर्भ क्रं. 17, 18, 19, 20, 21, 22, 23 एवं 24 आचार्य वट्टकेर, मूलाचार, गाथा क्रमशः 157, 189, 195, 177-178, 179, 180, 181 एवं 182।
9. सन्दर्भ क्रं. 25 आचार्य शिवकोटि, भगवती आराधना, (देहली प्रकाशन), गाथा 341।
10. सन्दर्भ क्रं. 26, 27, 28, 29, 30, 31, 32, 33 एवं 34 आचार्य वट्टकेर, मूलाचार, गाथा क्रमशः 184-185, 191, 192, 193, 194, 989, 994, 990 एवं 992।
11. सन्दर्भ क्रं. 35, 36, 37, 38, 39, 40, 41, 42 एवं 43 आचार्य वट्टकेर, मूलाचार, गाथा क्रमशः 993, 998, 995, 996, 997, 990-999, 1000, 196 एवं 108। ❖❖

नमस्तस्यै सरस्वती

वाणीपरकं शब्द चयन करते हुए लिखा है—

'ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाववाणी सरस्वती।' —(अमरकोश, 1/6/1)

व्याख्या— 'ब्राह्मी' द्वारा लोक में प्रचारित होने से 'ब्राह्मी' भारत में बोली जाने से 'भारती' मुख से उच्चार्यभाषा होने से 'भाषा' शब्दार्थों का निगरण करने से 'गी:' अथवा 'गिरा' उच्चरित होने से 'वाक्' शब्दार्थ के सेवन से 'वाणी' तथा जबान पर से गतिशील 'सरस्वती' कहलाती है। ●●

दार्शनिक-राजा की परम्परा के प्रवर्तक तीर्थंकर ऋषभदेव

—डॉ० सूर्यकान्त बाली

जैन-परम्परा के प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव एवं उनके ज्येष्ठपुत्र महायोगी भरत चक्रवर्ती का नाम विश्वविश्रुत है। ऋषभदेव के पिता 'नाभिराय' के नाम पर इस देश का नाम 'अजनाभवर्ष' रहा तथा फिर चक्रवर्ती भरत के नाम पर इसका नाम 'भारतवर्ष' हुआ। चूँकि प्राचीन भारत में वैचारिक मतभेद होते हुए भी मनभेद एवं विचारकालुष्य की संस्कृति नहीं थी, अतः अपने से भिन्न मतवादियों का भी ससम्मान उल्लेख वे अपने ग्रंथों में करते थे। श्रमण-संस्कृति एवं वैदिक-संस्कृति की विचार-भित्ति भिन्न-भिन्न होते हुए भी वैदिक-परम्परा के ग्रंथों के प्राचीन संस्करणों में श्रमणसंस्कृति के महापुरुषों के यशोगान निष्पक्ष-भाव से मुखरित दिखाई देते रहे। आधुनिक प्रकाशकों में संभवतः वैसी वैचारिक उदारता नहीं बची, इसलिए उन्हीं ग्रंथों के अधुनातन-संस्करणों से वे उल्लेख गायब कर दिये गये हैं। भला ही डॉ० बाली जैसे प्राचीन-परम्परा के अध्येता लेखकों का, जिन्होंने अपने लेखों/रचनाओं में उन उल्लेखों को स्वयं वैदिक विद्वान् होते हुए भी निष्पक्ष-भाव से सुरक्षित रखा। उनकी एक कृति में से यह आलेख यहाँ विचारार्थ प्रस्तुत है। —सम्पादक

आप नदी में नहाने के लिए निकलें और नदी पर घाट बना हो या नहीं, इससे कितना फर्क पड़ जाता है। घाट बना हो, तो आप आराम से नहा लेते हैं; और न बना हो, तो फिसल जाने के डर की गठरी सिर पर लादे आप जैसे- तैसे ही स्नान कर पाते हैं। घाट न बना हो, तो आप चाहते हैं कि 'काश ! यहाँ घाट' होता, तो कितना आराम होता।' पर अगर घाट बना हुआ हो, तो क्या कभी आप उस सत्पुरुष के बारे में भी सोचते हैं, जिसने घाट बनाया?

नहीं सोचते, पर इससे घाट बनानेवाले का महत्त्व तो कम नहीं हो जाता। इसलिए कल्पना कीजिए कि जैन-परम्परा में और आगे चलकर पुराणों में खासकर 'भागवत महापुराण' में अगर भगवान् ऋषभदेव की स्मृति सुरक्षित न होती, तो हम भारतवासी आज कितने वंचित होते? कभी जान ही नहीं पाते कि देश के ज्ञान इतिहास के शुरुआती दौर में, अर्थात् मनु की पाँचवीं पीढ़ी के आसपास ही एक ऐसा राजा इस देश में हो गया, जिसने राजपाट तो पूरी कुशलता और अक्तमंदी से चलाया ही, देश में कई तरह से कर्मण्यता और ज्ञान का प्रसार किया ही, वह खुद भी ऐसा महादार्शनिक था कि जिसने साबित किया कि

कैसे इस दुनिया में रहकर भी दुनिया से ऊपर रहा जा सकता है। और ऐसे महामानव को अगर जैन-परम्परा ने 'प्रथम तीर्थंकर' और भागवत-परम्परा ने 'विष्णु का अवतार' मानकर समानरूप से 'भगवान् ऋषभदेव' कह दिया, तो इसमें हैरान नहीं होना चाहिए।

पर यकीन मानिए कि हमारे इस कथन को पढ़कर हर कोई इस बात पर हैरान हो रहा होगा कि इसमें कौन-सी नई बात है कि एक राजा था, वह दार्शनिक भी हो गया? आखिर अम्बरीष भी राजा थे और भक्त भी थे। जनक भी राजा थे और ब्रह्मवेत्ता भी थे। सिद्धार्थ गौतम भी तो बुद्ध बनने से पहले राजकुमार थे। वैसे ही महावीर भी 'जिन' और 'तीर्थंकर' बनने से पहले राजकुमार थे और अगर ये दोनों राजकुमार घर-बार छोड़कर निकल न जाते, तो क्या महान् राजा-दार्शनिक न होते?

जरूर होते, पर चूँकि इस तरह के राजा दार्शनिकों की एक लम्बी-परम्परा हमारे देश में है, इसलिए हमें इसके प्रवर्तक के महत्त्व का पूरा पता नहीं चल रहा। चूँकि घाट बना पड़ा है और हम निश्चित होकर नदी में नहा रहे हैं, इसलिए हमें घाट बनानेवाले के उस महत्त्व की वैसी याद ही नहीं आ रही। अतः जिस समाज को अव्यवस्था के प्रलय से निकालने के लिए मनु ने भारत के ज्ञात इतिहास में पहली बार राजा का पद-ग्रहणकर समाज और शासन के लिए नियम बनाये हों, कहीं ऐसी राजसत्ता निरंकुश होकर उसे जन्म देनेवाली प्रजा पर ही अत्याचार ढाने न लगे, उसे रोकने के लिए आद्य-वशिष्ठ ने राजदंड पर ब्रह्मदंड का संयम ओढ़ाने का महान विचार इस देश को दिया हो, उस समाज में कुछ ही वक्त में एक अद्भुत राजा हो जाए, जो अपने राजदंड को अपने ही ब्रह्मबल से खुद ही संयत करने की नई परम्परा का सूत्रपात कर दे, तो क्या ऐसा प्रवर्तक राजा-दार्शनिक हमारे प्रणाम का पात्र नहीं बन जाता? चूँकि ऐसे राजा-दार्शनिकों की एक परम्परा हमारे पास है, चूँकि घाट बना पड़ा है, इसलिए उसका महत्त्व हमें उस हद तक दर्ज नहीं हो रहा; और जहाँ ऐसी परम्परा नहीं होती, ऐसा घाट नहीं होता, वहाँ ऐसे प्रवर्तक का कितना महत्त्व हो सकता है? इसके लिए याद कीजिए प्लेटो के 'फिलॉसॉफर किंग' के विचार को, इस विचार का मूर्तरूप बने किसी शासक की पश्चिम को आज भी तलाश है, और पता नहीं कब तक तलाश रहेगी।

हमारे देश में ऐसे विराट व्यक्तित्व दुर्लभ हैं, जो एक से अधिक परम्पराओं में भी समानरूप से मान्य और पूज्य हों। भगवान् ऋषभदेव उन दुर्लभ महापुरुषों में से एक हैं, और संभवतः सबसे पुराने। जहाँ जैन-परम्परा उन्हें अपने तीर्थंकरों की श्रेणी से पहला मानती है, वहाँ भागवत-परम्परा में उन्हें विष्णु के चौबीस अवतारों में से एक माना गया है। बाकी तमाम वर्णन लगभग समान है। वे आग्नीधराजा के पुत्र नाभि के पुत्र थे और उनकी माता का नाम 'मरुदेवी' था, जिन्हें जैन-परम्परा 'मरुदेवी' कहती है। जैनमत में ऋषभदेव को प्रथम राजा माना जाता है, तो भागवत-परम्परा में उन्हें मनु से 'पांचवीं पीढ़ी'

कहा गया है। दोनों परम्परायें उन्हें 'इक्ष्वाकुवंशी' और 'कोसलराज' मानती हैं और समानरूप से कहती हैं कि ऋषभदेव को जन्म से ही विलक्षण सामुद्रिक-चिह्न प्राप्त थे और वे शैशवकाल से ही योगविद्या में प्रवीण होने लगे थे। जैन-परम्परा पर लगभग मुहर लगाते हुए अनेक पुराण कहते हैं कि "ऋषभदेव के पुत्र भरत के नामपर इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा।" —(भागवत पुराण, पाँचवाँ स्कंध, अध्याय 6, पद्मपुराण पाँचवाँ स्कंध, अध्याय 6, गद्य श्लोक 7)

यह सब विवरण तो ठीक है। पर इसमें नोट करने लायक मजेदार बात यह है कि अगर जैन-परम्परा में इन महादार्शनिक की सांसारिक कर्मण्यशीलता पर ज्यादा बल मिलता है, तो भागवत-परम्परा में इन विशिष्ट राजा की दिगम्बरता, उनके परमहंस होने की सचाई पर कहीं ज्यादा जोर दिया गया है। और जाहिर है कि भगवान् ऋषभ का पूरा परिचय इन दोनों परम्पराओं को मिलाकर पढ़ने से ही हो पाता है। संदेश यह है कि भारत को समझने के लिए किसी एक परम्परा या पन्थ का अकेला सहारा लेकर काम नहीं चलता। सभी परम्पराओं को जानना-समझना ही पूरे भारत को जानने-समझने की अनिवार्य शर्त है। मसलन जैन-परम्परा में कुलकरो की एक नामावलि मिलती है, जिसमें ऋषभदेव पंद्रहवें, तो उनके पुत्र भरत सोलहवें कुलकर माने गए हैं। 'कुलकर' एक तरह से वे विशिष्ट-पुरुष हैं, जिन्होंने सभ्यता के विकास में कोई खास योगदान किया। सिर्फ नमूने के तौर पर जान लिया जाए, तो तीसरे कुलकर क्षेमंकर ने पशुओं का पालन करना सिखाया, पाँचवें कुलकर सीमंधर ने सम्पत्ति की अवधारणा दी और उसकी व्यवस्था करना सिखाया, ग्यारहवें कुलकर 'चंद्राभ' ने कुटुम्ब की परम्परा डाली। इस परम्परा में पंद्रहवें कुलकर ऋषभ ने एक नहीं बल्कि अनेक विधियों से समाज को अपना अद्भुत योगदान किया। 'असि' यानी युद्धकला, 'मसि' यानी लेखनकला, 'कृषिविद्या', वाणिज्य, शिल्प के प्रवर्तन के जरिए भगवान् ऋषभदेव ने समाज-जीवन में पता नहीं कितना कुछ कर डाला। क्या लगता नहीं कि उन्होंने जीवन को लगभग पूर्ण बना डाला? जो लोग भारत में लेखनकला को बहुत बाद में शुरू हुआ मानते हैं, उनके लिए निवेदन यह है कि वे कृपया ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी के बारे में परिचय प्राप्त करें, जिनके माध्यम से पिता ऋषभदेव ने लेखनकला का इस देश में इतने पुराने समय में प्रवर्तन कर डाला था। भारत की प्राचीनतम लिपि को 'ब्राह्मी लिपि' यूँ ही नहीं कहा जाता।

अब इससे एकदम अलग हटकर भागवत-परम्परा की ओर चलें, तो वहाँ ऋषभदेव को परमवीतराग, दिगम्बर, परमहंस और अवधूतराजा के रूप में जबरदस्त गुणगान-शैली में, मानो लिखने वाला सश्रद्ध सिर झुकाए बैठा हो, बताया गया है। ऐसा नहीं कि उनके सांसारिक जीवन को लेकर वहाँ कोई खड़िया पोत दी गई है, जैसे कि जैन-परम्परा में भी ऋषभदेव के दार्शनिक पहलू पर कोई कम बल नहीं दिया गया है।

अगर ऋषभदेव को स्वीकार ही नहीं किया गया, पूजा भी गया, तो जाहिर है कि भगवान् ऋषभ ने एक ऐसी अद्भुत-परम्परा का प्रवर्तन किया, जिसे पुराणों ही नहीं, 'ऋग्वेद' में भी यत्र-तत्र स्मरण किया गया है। 'ऋग्वेद' में एक शब्द मिलता है 'वृषभ'। विशेषण के रूप में इसका अर्थ है 'श्रेष्ठ'। परंतु शब्द ऋषभ हो या वृषभ, उसमें उच्चारण की सुविधा के कारण कोई अंतर नहीं पड़ता और बात एक ही है। इसलिए 'ऋग्वेद' में वृषभ या ऋषभ के श्रेष्ठ राजा और दार्शनिक होने के अद्भुत कर्म का उल्लेख एकाधिक बार आया है। एक स्थान पर तो ऋषभदेव का सम्बन्ध कृषि और गोपालन के सन्दर्भ में मिलता है, जो जाहिर है कि जैन-परम्परा को ही पुष्ट कर रहा है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि जैन-परम्परा के सभी तीर्थंकर में अकेले भगवान् ऋषभदेव को केशी, अर्थात् सिर के लम्बे बालों से युक्त होने के कारण 'केशी' कहा गया है। तीर्थंकर ऋषभदेव की अनेकों प्रतिमायें भी ऐसी मिली हैं, जिनमें उनके लम्बे सुन्दर केश कंधों से भी नीचे तक लटक रहे हैं और वे स्वयं दिगम्बर-अवस्था में हैं। एक प्रतिमा का समय आज से दो हजार साल पहले 'कुषाणकाल' में माना जाता है। और 'ऋग्वेद' के दसवें मंडल में एक सूक्त (संख्या 136) सिर्फ 'केशी' को लेकर है, और उसमें केशी का भी जो काव्यमय वर्णन मिलता है, उसे आप चाहें, तो ऋषभदेव के विलक्षण गुणों के साथ जोड़कर देख सकते हैं और मनचाहे निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

तो कहाँ पहुँचे? यहाँ कि भगवान् ऋषभदेव बेशक प्रथम तीर्थंकर हैं और विष्णु के अवतार हैं; पर उन्हें यह अद्भुत गौरव इस देश के लोगों ने उनके द्वारा किए गए इस अद्भुत योगदान के लिए दिया कि किसप्रकार एक राजा प्रजा के कल्याण की चिंता में दिन-रात एक करता हुआ भी आत्मज्ञान की परम-अवस्था को छू सकता है। उन्होंने एक ऐसा घाट बना दिया, जिस पर चलने की अपेक्षा आगे चलकर हर राजा से की गई, और कुछ तो उस पर चले भी। पर घाट बनानेवाले का सम्मान क्या हमने किया? किया। अगर सन्दर्भ आज का हो तो पूछना पड़ेगा, क्या उतना किया, जितना एक घाट बनानेवाले का करना होता है? अगर नहीं किया तो क्या बिगड़ा है? देश अपने पास है? देश की परम्परा अपने पास है, ऋषभ की मीठी-स्मृतियाँ अपने पास हैं, तो क्यों न बनें भगवान् ऋषभ हमारी आज की संसद् के आदर्श?

ऋषभपुत्र भरत : जिनसे मिला इस देश को अपना नाम 'भारतवर्ष'

आज कुछ नहीं करना। सिर्फ भारत का गुणगान करता है। भारत का गुणगान करना तो एक तरह से अपना ही गुणगान करना हुआ। तो भी क्या हर्ज है? गुणगान इसीलिए करना है क्योंकि उनको, उन पश्चिमी विद्वानों को जो हमें सिखाने का गरूर लेकर इस देश में आए थे, उनको बताना है कि हमारे देश का जो नाम है, वह वही क्यों है। वे जो अहंकार पाले बैठे थे कि इस फूहड़ (उनके मुताबिक) देश के बाशिंदों को उन्होंने सिखाया है कि राष्ट्र क्या होता है, राष्ट्रीयता एकता क्या होती है, उन्हें बताना है कि इस देश के पुराने, काफी

पुराने साहित्य में पूरी शिद्दत से दर्ज है कि भारत नामक राष्ट्र का मतलब क्या होता है और क्यों होता है? और उन तमाम इतिहासकारों को भी जिन्हें पश्चिमी विद्वानों द्वारा पढ़ाए गए भारतीय इतिहास के आर-पार सिर्फ अंधेरा ही अंधेरा नजर आता है, यह बताना है कि अपने देश का नाम-रूप जानने के लिए उन्हें अपने देश के भीतर ही झांकना होता है।

‘महाभारत’ का एक छोटा सा सन्दर्भ छोड़ दें, तो पूरी जैन-परम्परा और वैष्णव-परम्परा में बार-बार दर्ज है कि समुद्र से लेकर हिमालय तक फैले इस देश का नाम प्रथम तीर्थंकर दार्शनिक राजा भगवान् ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम पर ‘भारतवर्ष’ पड़ा। ‘महाभारत’ (आदि पर्व 2-9) का कहना है कि इस देश का नाम भारतवर्ष उस भरत के नाम पर पड़ा, जो दुष्यन्त और शकुन्तला का पुत्र कुरुवंशी राजा था। पर इसके अतिरिक्त जिस भी पुराण में भारतवर्ष का विवरण है, वहाँ इसे ऋषभ के पुत्र भरत के नाम पर ही पड़ा बताया गया है। ‘वायुपुराण’ कहता है कि इससे पहले भारतवर्ष का नाम हिमवर्ष था, जबकि ‘भागवत पुराण’ में इसका पुराना नाम ‘अजनाभवर्ष’ बताया गया है। हो सकता है कि दोनों हों और इसके अलावा भी कुछ नाम चलते और हटते रहे हों, तब तक जब तक कि ‘भारतवर्ष’ नाम पड़ा और क्रमशः सारे देश में स्वीकार्य होता चला गया। आप खुश हों या हाथ झाड़ने को तैयार हो जायें, पर आज पुराण-प्रसंगों को शब्दशः पढ़ना ही होगा। जिनमें इस देश के नाम के बारे में एक ही बात बार-बार लिखी है। अपने देश के नाम का मामला है न? तो सही बात पता भी तो रहनी चाहिए।

‘भागवत पुराण’ (स्कन्ध 5, अध्याय 4) कहता है कि भगवान् ऋषभ को अपनी कर्मभूमि अजनाभवर्ष में 100 पुत्र प्राप्त हुए, जिनमें से ज्येष्ठ पुत्र महायोगी भरत को उन्होंने अपना राज्य दिया और उन्हीं के नाम से लोग इसे भारतवर्ष कहने लगे—“येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीद् येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति।” दो अध्याय बाद इसी बात को फिर से दोहराया गया है।

‘विष्णुपुराण’ (अंश 2, अध्याय 1) कहता है कि जब ऋषभदेव ने नग्न होकर वन-प्रस्थान किया, तो अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को उत्तराधिकार दिया, जिससे इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ गया—ऋषभाद् भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशतस्य सः (श्लोक 28), अभिषिच्य सुतं वीरं भरतं पृथ्वीपतिः (29), नग्नो वीरां मुखे कृत्वा वीराध्वानं ततो गतः (31), ततश्च भारतं वर्षम् एतद् लोकेषु गीयते (32)।

‘लिंगपुराण’ देखा जाए। ठीक इसी बात को 47-21-24 में दूसरे शब्दों में दोहराया गया है—“सोऽभिचिन्त्याथ ऋषभो भरतं पुत्रवत्सलः। ज्ञानवैराग्यमाश्रित्य जित्वेन्द्रिय महोरगान्। हिमाद्रैर्दक्षिणं वर्षं भरतस्य न्यवेदयत्। तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः।” यानी (संक्षेप में) इन्द्रियरूपी साँपों पर विजय पाकर ऋषभ ने हिमालय के दक्षिण में जो राज्य भारत को दिया, तो इस देश का नाम तब से ‘भारतवर्ष’ पड़ गया। इसी बात को

प्रकारान्तर से 'वायुपुराण' और 'ब्रह्माण्डपुराण' में भी कहा गया है।

अगर जैन और भागवत दोनों परम्परायें भरत के नाम पर इस देश को 'भारतवर्ष' कहती हैं, तो उसके पीछे की विलक्षणता की खोज करना विदेशी विद्वानों के वश का नहीं, देशी विद्वानों की तड़प ही इसकी प्रेरणा बन सकती है। पर क्या कहीं न कहीं इसका संबंध इस बात से जुड़ा नजर नहीं आता कि यह देश उसी व्यक्तित्व को सिर आँखों पर बिठाता है जो ऐश्वर्य की हद तक पहुँचकर भी जीवन को सांसारिक नहीं, बल्कि आध्यात्मिक-साधना के लिए होम कर देता है?

जाहिर है कि ऋषभपुत्र भरत के नाम पर जब इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा होगा, तो धीरे-धीरे ही पूरे देश को यह नाम स्वीकार्य हो पाया होगा। एक सड़क या गली का नाम ही स्वीकार्य और याद होने में वर्षों ले लेता है, तो फिर एक देश का नाम तो सदियों की यात्रा पार करता हुआ स्वीकार्य हुआ होगा, तब भी वह जब संचार-साधन आज जैसे तो बिलकुल ही नहीं थे। पर लगता है कि 'महाभारत' तक आते-जाते इस नाम को अखिल भारतीय स्वीकृति ही नहीं मिल गई थी, बल्कि इसके साथ भावनाओं का रिश्ता भी भारतीयों के मन में कहीं गहरे उतर चुका था। ऊपर कई तरह के पुराणसंदर्भ तो इसके प्रमाण हैं ही, खुद 'महाभारत' के 'भीष्म पर्व' के नौवें अध्याय के चार श्लोक अगर हम उद्धृत नहीं करेंगे, तो पाठकों से महान् अन्याय कर रहे होंगे। धृतराष्ट्र से संवाद करते हुए, उनके मन्त्री, जिन्हें हम आजकल थोड़ा हल्के मूड में 'महाभारत का युद्ध-संवाददाता' कह दिया करते हैं, संजय कहते हैं—

अत्र ते वर्णयिष्यामि वर्षं भारत-भारतम् ।

प्रियं इन्द्रस्य देवस्य मनोः वैवस्वतस्य च ॥

पृथोश्च राजन् वैन्यस्य तथेक्ष्वाकोः महात्मनः ।

ययातेः अम्बरीषस्य मान्धातुः नहुषस्य च ॥

तथैव मुचुकुन्दस्य शिबेः औशीनरस्य च ।

ऋषभस्य तथैलस्य नृगस्य नृपतेस्तथा ॥

अन्येषां च महाराज क्षत्रियाणां बलीयसाम् ।

सर्वेषामेव राजेन्द्रप्रियं भारत-भारतम् ॥

अर्थात् हे महाराज धृतराष्ट्र! अब मैं आपको बताऊँगा कि यह भारतदेश सभी राजाओं को बहुत ही प्रिय रहा है। इन्द्र इस देश के दीवाने थे, तो विवस्वान् के पुत्र मनु इस देश से बहुत प्यार करते थे। ययाति हों या अम्बरीष, मान्धाता रहे हों या नहुष, मुचुकुन्द, शिबि, ऋषभ या महाराज नृग रहे हों, इन सभी राजाओं को तथा इनके अलावा जितने भी महान् बलवान् राजा इस देश में हुए, उन सबको भारतदेश बहुत प्रिय रहा है।

—(साभार उद्धृत, 'भारतगाथा', निष्ठा प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 30-37)



केरली-संस्कृति में जैन-योगदान

—राजमल जैन

दक्षिण-भारत में जैन-संस्कृति के प्राचीन-प्रमाणों से प्रायः लोग परिचित नहीं हैं। वैसे तो अनेकोंजैन जैन-प्रतिमाओं को किंचित् सादृश्य के कारण बौद्ध-प्रतिमाओं के रूप में घोषित कर देते हैं। जैनों का विगत डेढ़-दो शताब्दियों में व्यापार-केन्द्रित-जीवन बन जाने से उनकी संस्कृति, साहित्य और पुरातत्त्व आदि के साथ जो अनुचित-व्यवहार हुआ है, वे या तो उससे अनभिज्ञ बने रहे और या फिर उन्होंने इस दिशा में कोई प्रतिकार करने की चेष्टा ही नहीं की। इस उपेक्षा के कारण लेखन-एवं प्रसार-माध्यमों में जैनत्व की घोर-उपेक्षा हुई है।

नैतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक जीवन, भाषा-साहित्य एवं शिल्प आदि विविध क्षेत्रों में जो जैनधर्म एवं संस्कृति का प्राचीन केरल में प्रभाव रहा है, इसे भलीभाँति सप्रमाण रेखांकित करने का सार्थक प्रयास विद्वान् लेखक ने इस आलेख में किया है। जिज्ञासुओं एवं मनीषियों—सभी के लिए यह आलेख पठनीय एवं मननीय है। —सम्पादक

एक जैन-लेखक के लिए उपर्युक्त विषय पर कलम चलाना शायद 'अपने मुँह मियां मिट्टू' बनने के समान लग सकता है; किन्तु जब यह सुनने को मिलता है कि केरल के जीवन पर जैनधर्म की कोई छाप नहीं है, तो अधिक कष्ट होता है कि प्राचीनकाल की सबल जैन-परम्परा को किसप्रकार शून्य कर दिया गया है? इसकारण यहाँ संक्षेप में इस योगदान की चर्चा की जायेगी। पक्षपात के दोष से बचने के लिए संबंधित-स्रोत या लेखक का नाम भी दे दिया गया है।

प्राकृत : मलयालम और प्राचीन तमिल

प्राचीनकाल में जैन-शास्त्रों की प्रियभाषा 'प्राकृत' ने 'मलयालम' को प्रभावित किया है। यही नहीं, मणिप्रवाल-भाषा-शैली तथा संस्कृत के प्रयोग में भी जैन अग्रणी रहे हैं। कुछ 'प्राकृत-शब्द' तो आज भी 'मलयालम' में प्रचलित हैं। केरल गजेटियर के खंड 2, पृ० 236 पर यह मत व्यक्त किया गया है, "The impact of the Jain terminology on Malayalam is detected by the presence of loan words from Jain Prakrits of Ardhamagadhi, Jain Maharastri and Jain Sauraseni. Achuthan (Accuda), Astamavam (Atthamava), Ambujam (ambuya), Ayan (Aya), Jagam (Jaga), Yogi (Jogi), Narayam (Naraya), Nivati (Nitval), Pankajam

(Pamkava), Makaviram (Magasira), Vairam (Vavara, Vivegikku (Vivega), Vedivan (Veddiava) are some such words."

तमिल-साहित्य द्रविड-भाषाओं पर जैन-प्रभाव

दक्षिण-भारत की प्रादेशिक भाषाओं के प्रयोग और विकास में जैनों की प्रमुख-भूमिका रही है— यह तथ्य सभी निष्पक्ष-भाषाविद् अच्छी तरह जानते हैं। संस्कृत का प्राधान्य, विशेषकर केरल में, बहुत बाद की बात है। ब्राह्मण-वर्ग ने तो संस्कृत को अपने लिए सुरक्षित रखा था। केरल के अत्यंत सम्मानित समाज-सुधारक श्री चट्टम्पि स्वामी और नारायण गुरु का संघर्ष इसका उदाहरण है। प्राचीन तमिल-साहित्य भी केरल की बहुमूल्य-विरासत है। उसके संपोषण में जैनों का बहुत बड़ा योगदान रहा है। गजेटियर के पृ० 235-236 पर ठीक ही लिखा है कि, "The earliest votaries of Dravidian literature have been Jains. Robert Caldwell most pertinently remarks 'Doubtless The Jains themselves used Sanskrit in southern as in northern India at the commencement of their work as teachers.' (probably for a century or two before) they set themselves to the task of developing amongst each of the Dravidian races a popular literature independent of their rivals the Brahmins. ..." "Some of the oldest Tamil works extant were written or claimed to have been written by the Jains. The Naladiyar and the Kural are said to belong to the Jain cycle in the history of Tamil literature. Some scholars arrived at this conclusion from the internal evidence of the works themselves. Caldwell is of the view that 'Tamil is indebted for its high culture and its comparative independence of Sanskrit chiefly to the Jains.'" जैन-मुनियों, धर्म-प्रचारकों आदि द्वारा क्षेत्रीय-भाषाओं के विकास और प्रयोग का प्रमुख कारण यह है कि उन्होंने प्राकृत को 'देववाणी' आदि नहीं कहा, बल्कि इसके विपरीत उन्होंने संबंधित-क्षेत्र की भाषा को अपनाया और उसी में अपना उपदेश आदि देने के साथ ही साथ उसमें बहुमूल्य-साहित्य का सृजन भी किया। कन्नड़ और तमिल के प्राचीन कोश, व्याकरण, काव्य, महाकाव्य आदि इसके प्रमाण हैं। तमिल का उपदेशात्मक या नीतिपरक-विपुल-साहित्य जैनों की विशेष देन है। वह भी केरल की विरासत है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इस साहित्यिक-निधि को अन्य किसी धर्म की देन बतलाने की प्रवृत्ति भी देखी जाती है। न तो पिछली सदियों में और न ही आजकल जैन-मुनियों ने प्राकृत में ही अपना या महावीर का संदेश सुनने का कभी आग्रह किया। जैन-मुनि के लिए यह विधान भी है कि वे अन्य भाषायें सीखें और लोकभाषा में अपना उपदेश दें। वास्तव में जैन-संघ सदा ही लोक-भाषाओं का प्रबल पक्षधर रहा है।

मलयालम भाषा में 'केरलचरित्रम्' (केरल का इतिहास) दो वृहदाकार खंडों में 'केरल हिस्ट्री एसोसिएशन' द्वारा प्रकाशित किया गया है। उसमें (पृ० 1023-24) भी जैनों के योगदान की चर्चा है। किंतु जैनधर्म के साथ बौद्धधर्म का भी नाम जोड़ा गया है। यह

विचारणीय है कि बौद्धधर्म तो केरल से सातवीं और नौवीं सदी के बीच ही लुप्त हो गया था। जो भी हो, इस इतिहास के कुछ अंश इसप्रकार हैं, “जैन-बौद्धधर्मों के प्राबल्य के साथ केरल में आयुर्वेद-चिकित्सा-पद्धति को पुष्टि मिली।” जैन-बौद्ध-सन्न्यासियों ने नानाप्रकार के शास्त्र-ग्रंथों का केरल में प्रचार किया। कुजिकुट्टन-तंपूरान अपने ‘केरलम् काव्य’ के द्वितीय सर्ग में लिखते हैं, “बौद्ध-जैनियों ने अपने योग-बल से अनेक सिद्धियाँ प्राप्त की थीं और अपने वैद्यक-ज्योतिष आदि शास्त्रों से संबंधित पुस्तकों की रचना की। केरल के ब्राह्मणों ने इनका परिचय जैन-बौद्ध-ग्रंथों से प्राप्त किया था।”

कुजिकुट्टन-तंपूरान का यह मत गौर करने योग्य है कि “मलयाली-ब्राह्मणों ने ज्योतिष, अमरकोष, ज्योतिर्गणित, आयुर्वेद आदि विद्याओं का ज्ञान जैनियों और बौद्धों से पाया था। इसलिए उनके प्रति केरली-ब्राह्मणों ने विरोध का प्रदर्शन नहीं किया; किंतु अनुनय-अनुरंजन के द्वारा उन्हें अपने वश में करने का प्रयत्न किया था।” तंपूरान का कहना है कि “तच्चों (तच्च-बढई) द्वारा प्रचार किया गया ‘तच्चशास्त्र’ (बढईगिरी का ग्रंथ), कणियान-जाति द्वारा प्रचारित ज्योतिष, वेलन-जाति द्वारा प्रचारित वैद्यकशास्त्र केरल में अतिप्राचीनकाल से चली आ रही परंपरा पर आधारित है।” तंपूरान का समय उन्नीसवीं सदी का अंत और बीसवीं सदी का प्रारंभ है। इसलिए उनके मत के साथ बौद्धधर्म की संगति नहीं बैठती है। इन उल्लिखित विषयों की चर्चा इसी अध्याय में आगे की जायेगी।

दाम्पत्य-संबंध

पति-पत्नी-संबंध का आदर्श भी जैन-संस्कृति की एक महत्वपूर्ण देन केरल को है। इस संबंध में उपर्युक्त ‘केरलचरित्रम्’ के पृ० 1098 पर यह मत व्यक्त किया गया है, “दाम्पत्य-संबंध में एकपत्नी और एकपतित्व का प्रारंभ कब से हुआ, इसके संबंध में कोई निश्चित-मत निर्धारित करना कठिन है। केरल में जैनधर्म के प्रभाव ने इस दिशा में अपना अंशदान किया होगा। ‘शिलप्पादिकारम्’ में वर्णित दाम्पत्य-लक्षण में ऐहिक-सुखों से विरक्ति का जैनदर्शन परिलक्षित होता है, जिसमें दाम्पत्य-रति दैहिक न होकर आध्यात्मिक-स्तर पर वर्णित है। इस काव्य में स्पष्ट संकेत मिलता है कि स्त्री-पुरुष संयोग में लैंगिकता की अपेक्षा आत्मिक एवं दैवी-छाया का होना अधिक वांछनीय है।” यहाँ इतना ही उल्लेख किया जाता है ‘शिलप्पादिकारम्’ में जैन-श्राविका ‘कण्णगी’ और उसके प्रति ‘कोवलन’ की करुण कहानी है, जो कि आज भी केरल के जनमानस पर छाई हुई है। यह महाकाव्य चेरवंश के युवराजपाद इलंगो अडिकल की अमर-कृति है। केरल को उस पर गर्व है। उसका अनेक भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। इलंगो जैन-साधु हो गए थे। उनका समय ईसा की दूसरी सदी है। अधिक विवरण एवं तथ्यों के लिए देखिए ‘कोडंगल्लूर’ नामक पुस्तक।

पुनर्जन्म का सिद्धांत

अपने शुभ और अशुभ-कर्मों के अनुसार प्रत्येक प्राणी को तब तक जन्म और मरण

का दुःख सहन करना पड़ता है, जब तक कि वह स्वयं तप कर मोक्ष प्राप्त न कर ले। इस दुःख से उसे कोई ईश्वर नहीं बचा सकता, उसे स्वयं ही आत्म-कल्याण की राह पर चलना होता है। केरल में पुनर्जन्म के सिद्धांत में व्यापक विश्वास भी जैन-सिद्धांतों के व्यापक-प्रचार का परिणाम जान पड़ता है। 'केरलचरित्रम्' के शब्दों में, "ईस्वी आठवीं-नवीं शताब्दी में प्रचलित जैनधर्म के सिद्धांतों के अनुसार जो जीव इहलोक के सुखों से अतृप्त होकर मर जाता है, उसका पुनर्जन्म होता है।" — (पृ० 1131)

शिक्षा का प्रारंभ 'नमोस्तु जिन' से

'प्राकृत' और 'मलयालम'-संबंधी अध्याय में यह कुछ विस्तार से बताया गया है कि केरल में बच्चों की शिक्षा का प्रारंभ 'नाना मोना' से शुरू होता था, जिसका अर्थ 'नमोस्तु' है। किंतु इस संबंध में यह याद रखने योग्य है कि इस शब्द का वास्तविक संबंध जैन-परम्परा से है। बौद्ध तो 'शरणम्' तक सीमित रहते थे। खेद की बात है कि बौद्धधर्म के माननेवाले अमरसिंह ने 'अमरकोष' में 'जिन' शब्द का केवल बुद्धधर्म-संगत पर्याय देकर जैनधर्म के साथ न्याय नहीं किया। 'जिन' शब्द बुद्ध से भी प्राचीनकाल से जैन-देवता या तीर्थंकर के अर्थ में प्रयुक्त होता आ रहा है। इस संबंध में स्वयं गौतमबुद्ध का कथन 'जिननिकेतन श्रीमूलवासम्' नामक प्रकरण में देखिए। 'केरल गजेटियर' ने भी 'अमरकोष' का पर्याय दोहरा दिया ऐसा लगता है। उसके पृ० 241 पर यह उल्लेख है, "It was the practice in Kerala to initiate first lessons in reading and writing with the ceremonial invocation of Jina or Buddha. Namostu.. Jina was later on replaced by the Brahmin gurus as Hari Sri Ganapathaye Nama." पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं कि 'जैन' शब्द ही 'जिन' से बना है तथा जो जैनों के परस्पर अभिवादन से परिचित हैं, उन्हें यह ज्ञात होगा कि जैन एक-दूसरे से मिलने पर **जयजिनैन्द्र** का ही प्रयोग करते हैं। बुद्ध के लिए 'जिन' शब्द अधिक नहीं चला। केरल में तो उनका मत कभी का लुप्तप्रायः हो चुका था।

शिक्षा के क्षेत्र में जैनों का योगदान केरल में आज भी स्कूल के अर्थ में प्रचलित शब्द 'पळळिक्कूटम्' से भी सूचित है। केरल के जैन मंदिरों, मठों के साथ विद्यालय हुआ करते थे और भारत के अनेक स्थानों पर आज भी होते हैं। इलंगो अडिगल उसीप्रकार के मठ या मंदिर में निवास करते थे। 'इरिगालकुडा' का भरत-मंदिर, जो कि किसी समय जैनमंदिर था, विद्या का एक प्रसिद्ध-केन्द्र था। वैदिक-स्कूल 'शालै' कहलाते थे।

आयुर्वेद और जैन

केरल में आयुर्वेद का बहुत प्रचार है जो कि बलवती प्राचीन-परंपरा का परिणाम है। इस शास्त्र के अध्ययन में **अष्टांगहृदय** नामक ग्रंथ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसके रचयिता वाग्भट्ट बौद्ध थे, ऐसा माना किया जाता है। किंतु इस मत की समीक्षा आवश्यक है।

जैनधर्म में तीर्थंकर की वाणी को बारह अंगों में संकलित किया गया है। उसके बारहवें

अंग का नाम 'दृष्टिवाद' है। उसके एक भेद 'पूर्व' के अंतर्गत प्राणावायु में अष्टांगहृदय आयुर्वेद का विस्तार से वर्णन है। 'आचार्य-देशभूषण-अभिनंदन-ग्रंथ' में एक लेख 'आयुर्वेद के विषय में जैन-दृष्टिकोण और जैनाचार्यों का योगदान' में आयुर्वेदाचार्य राजकुमार जैन ने 'प्राणावायु' की परिभाषा निम्नप्रकार उद्धृत की है "कायचिकित्साद्यष्टांग-आयुर्वेद- भूतकर्मजागुलिप्रमः प्राणापानविभागोऽपि यत्र विस्तरेण वर्णितस्तत्प्राणावायुम्" अर्थात् जिस शास्त्र में काय, तद्गत दोष और उनकी चिकित्सा आदि अष्टांग-आयुर्वेद आदि, पृथ्वी आदि पंचमहाभूतों के कर्म, विषैले जीव-जंतुओं के विष का प्रभाव और 'उसकी चिकित्सा तथा प्राण-अपान-वायु का विभाग विस्तारपूर्वक वर्णित हो, वह 'प्राणावायु' होता है।" इस अत्यंत प्राचीन परिभाषा में 'अष्टांग आयुर्वेद' का उल्लेख स्पष्टरूप से है। अतः इस नाम के ग्रंथ के जैन होने की संभावना बनती है।

आयुर्वेदिक-चिकित्सा बिना मांस और अशुचि-पदार्थों के सेवन के भी की जा सकती है, यह सिद्ध करने के लिए जैन आचार्य उग्रादित्य ने 'कल्याणकारक' नामक वैद्यक-ग्रंथ की रचना की थी। उसका भी दक्षिण-भारत में आदर है। इस ग्रंथ में 'अष्टांगहृदय' को "समंतभद्रैः प्रोक्तं" अर्थात् समंतभद्र द्वारा कथन किया गया कहा गया है। इससे भी 'अष्टांगहृदय' जैन-ग्रंथ है —ऐसा सूचित होता है।

पंद्रहवीं सदी में 'आशाधर' नाम के एक जैन विद्वान् हुए हैं, जिन्होंने जैन-गृहस्थों और जैन-मुनियों के आचार के विषय में 'सागार-धर्माभूत' और 'अनगार-धर्माभूत' नामक दो ग्रंथों की रचना की है। ऊपर उल्लिखित अभिनंदन-ग्रंथ में डॉ० तेजसिंह गौड़ ने अपने लेख 'जैन-संतों की आयुर्वेद को देन' में आशाधर के संबंध में यह सूचना दी है, "इन्होंने वाग्भट के प्रसिद्ध ग्रंथ 'अष्टांगहृदय' पर 'उद्योगिनी' या 'अष्टांगहृदयद्योतिनी' टीका लिखी थी।" आशाधर की ग्रंथ-प्रशस्ति में इसका उल्लेख है—

आयुर्वेदविदामिष्टं व्यक्तु वाग्भटसंहिता ।

अष्टांगहृदयोद्योतं निबंधमसृजच्चयः ।।

उपर्युक्त उल्लेखों को देखते हुए विद्वानों को इस ग्रंथ के जैन-ग्रंथ होने की संभावना पर भी विचार करना चाहिए।

'रसवैशेषिकसूत्रम्' और नागार्जुन

केरल के आयुर्वेदिक कॉलेज में 'रसवैशेषिकसूत्रम्' नाम का एक ग्रंथ पढ़ाया जाता है और उसके कर्ता दूसरी सदी के बौद्ध-आचार्य नागार्जुन हैं— ऐसा माना जाता है। किंतु इसी ग्रंथ की श्री शंकर-लिखित 'भूमिका' में यह प्रतिपादित किया गया है कि यह रचना सातवीं सदी के किसी बौद्ध मलयाली-लेखक की है, जिसका नाम भी नागार्जुन था। इस भूमिका में भी बौद्ध और जैनधर्म-संबंधी भ्रांति परिलक्षित होती है। भूमिका-लेखक ने केरल में बौद्ध-अंशदान का उदाहरण देते हुए लिखा है कि 'चिरातल' नाम के गाँव के पास बौद्ध-अवशेष देखे जा सकते हैं। वहाँ बौद्ध नहीं, अपितु जैन-अवशेष हैं। इस गाँव के पास

की जिस पहाड़ी पर ये अवशेष हैं, वह 'तिरुच्चारणट्टमलै' कहलाती है अर्थात् 'चारणों की पवित्र-पहाड़ी', जो कि किसी समय जैनों के लिए पावापुरी के समान पवित्र-स्थान थी। अब वहाँ का 'गुफा मंदिर' भगवती-मंदिर कहलाता है; किंतु उसमें महावीर, पार्श्वनाथ और अंबिकादेवी की प्रतिमायें आज भी देखी जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त वहाँ की चट्टान पर लगभग तीन जैन-प्रतिमायें उत्कीर्ण हैं। ऐसा संभवतः जिन-मूर्तियों-संबंधी ज्ञान के अभाव के कारण होता है। वहाँ के पुजारी भी उन प्रतिमाओं को 'बुद्ध की मूर्ति' बतलाते हैं।

श्वेताम्बर आचार्य हस्तीमलजी ने वृहदाकार-ग्रंथ 'जैनधर्म का मौलिक इतिहास' में नागार्जुन नामक एक जैन-आचार्य का परिचय दिया है, जिसकी कुछ प्रमुख बातें इसप्रकार हैं— "आचार्य नागार्जुन ने प्रारंभ से ही प्रबल साहसी होने के कारण पर्वतों की गुफाओं एवं जंगलों में घूम-घूम कर वनवासी महात्माओं के संसर्ग से वनस्पतियों, जड़ियों और रसायनों द्वारा रस बनाना सीख लिया।" उनकी जीवनी में आगे कहा गया है कि "एक दिन नागार्जुन ने अपने गुरु पादलिप्त सूरि को स्वर्ण बनाने, पैरों में लेप लगाकर गगन में विहार आदि द्वारा प्रभावित करने का भी उपक्रम किया था। इस पर सूरिजी ने नागार्जुन को समझाया कि "वे सांसारिक विभूतियों के प्रलोभन से दूर रहकर अपनी आत्मा के कल्याण का मार्ग अपनावें।" नागार्जुन ने वैसा ही किया। उनका समय गुप्तवंशी चंद्रगुप्त प्रथम और समुद्रगुप्त का समय बताया है अर्थात् चौथी सदी ईस्वी का पूर्वार्द्ध। आचार्य नागार्जुन ने दक्षिणापथ के श्रमण या जैन-साधुओं को भी एकत्रित किया था। क्या यह संभव नहीं कि 'रसवैशेषिक सूत्रम्' इन्हीं की कृति हो। यह भी स्मरणीय है कि उक्त सदी में 'तमिलगम्' में जैनधर्म का अत्यधिक प्रभाव था। इस प्रश्न पर शोध की आवश्यकता है, विशेषकर केरल के कवि कुंजिकुट्टन तंपूरान के इस कथन के प्रकाश में कि "केरल के ब्राह्मणों ने वैद्यक का ज्ञान जैनों से भी प्राप्त किया था।" प्रस्तुत लेखक ने उपर्युक्त दो ग्रंथों का ही सरसरी-तौर पर अध्ययन किया था। अन्य ग्रंथों पर भी जैन-प्रभाव की संभावना-संबंधी खोज होनी चाहिए।

पूज्यपाद के वैद्यक-संबंधी प्रयोग आरा (बिहार) से प्रकाशित 'वैद्यसारसंग्रह' नामक ग्रंथ में प्रकाशित हैं।

ज्योतिष और जैन

कुंजिकुट्टन तंपूरान का यह मत भी समीचीन है कि केरल के ब्राह्मणों ने ज्योतिष का ज्ञान जैनों से भी प्राप्त किया था। केरल के ज्योतिष-इतिहास में ही नहीं, अपितु भारतीय-ज्योतिष के इतिहास में भी जैनों का बहुमूल्य योगदान है। स्व० डॉ० नेमिचंद्र ज्योतिषाचार्य ने 'भारतीय-ज्योतिष' का एक विस्तृत ग्रंथ लिखा है, जिसके चौदह संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। उन्होंने 'केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि' नामक प्रश्न-ज्योतिष के एक प्राचीन-ग्रंथ की भूमिका में केरल में लोकप्रिय प्रश्न-ज्योतिष आदि के संबंध में जो तथ्य दिए हैं, उनका संक्षिप्त उल्लेख यहाँ उद्धृत है। वे लिखते हैं, "डॉ० श्याम शास्त्री ने वेदांग-ज्योतिष की भूमिका में बताया है

कि वेदांग-ज्योतिष के विकास में जैन-ज्योतिष का बड़ा भारी सहयोग है, बिना जैन-ज्योतिष के अध्ययन के वेदांग-ज्योतिष का अध्ययन अधूरा ही कहा जायेगा। भारतीय प्राचीन-ज्योतिष में जैनाचार्यों के सिद्धांत अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण हैं।" विशेषकर दक्षिण भारत के संबंध में उनकी सूचना है कि आर्यभट्ट ने भी जैन-युग की 'उत्सर्पिणी' और 'अवसर्पिणी'-संबंधी कालगणना को स्वीकार किया है। पांड्य-राष्ट्र में आचार्य सर्वनदी ने गणित-ज्योतिष का ग्रंथ लिखा था। कन्नड़ में 'लीलावती' नामक ग्रंथ प्रसिद्ध है। डॉ० नेमिचंद्र का कथन है कि "जैनाचार्यों ने ज्योतिष और गणित-संबंधी ग्रंथों की रचना संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, तमिल एवं मलयालम आदि भाषाओं में भी की है।" उपर्युक्त 'चूडामणि' की प्रस्तावना में प्रश्न-ज्योतिष का विकासक्रम बताते हुए डॉ० नेमिचंद्र ने इस विषय का प्रथम जैन-ग्रंथ 'अर्हच्चूडामणिसार' को बताया है और उसे आचार्य भद्रबाहु की कृति माना है। वे लिखते हैं कि 'अर्हच्चूडामणिसार' के पश्चात् ग्रंथों की परम्परा बहुत जोरों से चली। दक्षिण-भारत में प्रश्न-निरूपण करने की प्रणाली अक्षरों पर ही आधारित थी। 5-6 शती में 'चंद्रोन्मीलन' नामक प्रश्न ग्रंथ बनाया गया है। जैनों की पाँचवीं-छठी शताब्दी की यह प्रणाली बहुत प्रसिद्ध थी, इसलिए इस प्रणाली को ही लोग 'चंद्रोन्मीलन प्रणाली' कहने लगे थे। चंद्रोन्मीलन के व्यापक प्रचार के कारण घबड़ाकर दक्षिण-भारत में 'केरल' नामक प्रणाली निकाली गयी है। 'केरलप्रश्नसंग्रह' केरलप्रश्नरत्न, केरलप्रश्नतत्त्वसंग्रह आदि केरलीय प्रश्न-ग्रंथों में चंद्रोन्मीलन के व्यापक प्रचार का खंडन किया है—'प्रोक्तं चंद्रोन्मीलनं दिक्वस्त्रैस्तच्चाशुद्धम्'। पाठक स्वयं देख सकते हैं कि यहाँ इस उद्धरण में यह कह दिया गया है कि चंद्रोन्मीलन का कथन दिक्वस्त्रों ने किया है, वह अशुद्ध है। 'दिक्वस्त्र' का अर्थ है 'दिशा ही जिनके वस्त्र हैं' अर्थात् दिग्म्बर-जैन मुनि। केरल में एक ग्रंथ 'प्रश्नचूडामणि' नामक का भी मिलता है। वह भी ज्योतिषाचार्य के अनुसार जैन-आचार्य द्वारा प्रणीत हो सकता है। उसके अंत में "ॐ शान्ति श्री जिनाय नमः" लिखा है।

डॉ० नेमिचंद्र के अनुसार 'केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि' का रचनाकाल 13वीं सदी का मध्यभाग हो सकता है तथा उसके रचयिता समंतभद्र हैं, जो कि आयुर्वेद और ज्योतिष के विद्वान् थे। वे काँची के समंतभद्र से भिन्न हैं।"

शाकाहार

केरल के लोगों के आचार-विचार के संबंध में जैनधर्म के प्रभाव का विश्लेषण 'केरलचरित्रम्' में उपलब्ध है। वह इसप्रकार है— "हिंदुओं के आचार-विचार में बौद्ध-जैनधर्मों का काफी प्रभाव मिलता है। मांसाहार का वर्जन इसमें प्रमुख है।" —(पृ० 323) इसलिये मांसाहार के वर्जन का श्रेय जैनधर्म को ही दिया जाना चाहिए। इतिहासकार श्रीधर मेनन ने लिखा है कि केरल अठारहवीं सदी तक शाकाहारी रहा। बौद्धधर्म तो केरल से इस सदी से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व ही केरल से लुप्त हो चुका था। जिस धर्म के लोग मांस खाते हों, उसे शाकाहार का श्रेय कैसे दिया जा सकता है?

अष्ट मंगल-द्रव्य

केरल में 'तालपोलि' नाम के एक उत्सव में अष्टमंगल-द्रव्यों का प्रयोग भी जैन-प्रभाव की सूचना देता है। डॉ० के०के० एन०कुरुप ने भगवती और अन्य मंदिरों में इस उत्सव के संबंध में यह मत प्रकट किया है, "The cult of talappoli in shrines and Bhagavati temples of Kerala is a legacy in which the Jains had their contribution in shrines of Kavus of North Malabar where Tappattam of Bhagavati is performed, the practice of virgin is also observed in festivals. The virgin girls who had observed several rituals like holy bath and clad in white clothes proceed with Talappoli before the Teyyam of Bhagavati; In festival and other occasions the eight auspicious articles like umbrella, conch, swastik, purna kumbha and mirror are provided for prosperity and happiness as a tradition. This custom is also relating to Jainism." (P.9, *Aspects of Kerala History and Culture*) "जैन-विधि-विधान और स्थापत्य-कला से परिचित यह जान सकेंगे कि जैनधर्म में अष्टमंगल-द्रव्यों का बड़ा महत्त्व है। मथुरा के 'कंकाली टीले' से प्राप्त ईसा की पहली-दूसरी सदी की कुछ जैन-प्रतिमाओं के साथ या जैन-आयागपट के रूप में इन ही अष्टमंगल-द्रव्यों का अंकन पाया गया है।

कला और स्थापत्य

इन क्षेत्रों में भी केरल के जैन शायद सबसे अग्रणी रहे हैं। 'कुणवायिलकोट्टम्' का जैन मंदिर, जिसे डच-लोगों ने नष्ट किया बताया जाता है, केरल के मंदिरों यहाँ तक कि वहाँ कि मस्जिदों के निर्माण के लिए आदर्श था। मलाबार मेनुअल खंड 1, पृ० 218 में विलियम लोगन्स ने इस संबंध में लिखा है— "The Jains do, however, seem to have left behind one of their peculiar styles of temple architecture, for the Hindu temples and even Muhammadanmosques of Malabar are all built in the style peculiar to the Jains, as it is still to been seen in the Jain Bastis at Mudbidri and other places in the South Canara district." मंदिरों की इस शैली के संबंध में लोगन्स ने प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता फर्गुसन का यह मत उद्धृत किया है कि मूडबिद्री या तुलु-प्रदेश के लगभग सभी मंदिर जैनों के हैं। उनकी निर्माण-शैली न तो द्रविड है और न ही उत्तर-भारतीय; बल्कि उसका साम्य नेपाल के मंदिरों से अधिक है। इनके स्तंभ ऐसे लगते हैं, मानों लकड़ी के चौकोर लट्टे ही हों और बरामदों की ढलवां छतें काष्ठ-मंदिरों का स्मरण दिलाती हैं। लोगन्स ने इस शैली की व्यापकता कन्याकुमारी तक बताई है। मस्जिदें भी इसी शैली में क्यों बनीं? —इसका कारण भी लोगन्स ने यह बताया है कि नौ मस्जिदें तो जैन-मंदिरों के स्थान पर बनी हैं। उनके साथ मंदिरों की भूमि भी मस्जिदों को दे दी गई। पहले मंदिरों को ज्यों का त्यों उपयोग में लाया गया; किंतु बाद में यही शैली अपना ली गई।

केरल में जैनों ने (footprints), चरणों, गुहा-मंदिरों, (cave temples), शिला-शय्याओं

(rock-beds), छतरीनुमा शिलाच्छादित समाधि-स्थलों (टोपी कल्लु Topikallu, kudakkal) आदि का भी निर्माण किया और मूर्तिकला में भी यथेष्ट योगदान किया। श्री ए० श्रीधर मेनन अपनी पुस्तक Social and Cultural History of Kerala में लिखते हैं— "The Jain relics form an important part of the sculptural heritage of Kerala."

अनेक जैन-मंदिर मस्जिदों के रूप में परिणत कर दिए गए। इसीप्रकार अनेक जैन-मंदिर आज शिव, विष्णु अथवा भगवती-मंदिर के रूप में परिवर्तित हैं। जैन-कला और स्थापत्य का आकलन करते समय इनको भी ध्यान में रखना उचित होगा। इसमें एक कठिनाई यह भी आती है कि स्पष्ट संकेतों के होते हुए भी इनके संबंध में कुछ कथायें प्रचलित कर दी गई हैं और इतिहास धूमिल हो गया है।

मंदिरों की बहुलता जैनों के कारण

यह सभी जानते हैं कि प्राचीन समय में और कुछ अंशों में आज भी वैदिक-धर्म का मुख्य-लक्षण यज्ञ करना रहा है। इसके लिए यज्ञशालायें हुआ करती थीं, जबकि जैन-लोग मूर्तियों की पूजा करते थे और अब भी करते हैं। इसके लिए मंदिरों का निर्माण किया जाता था और किया जाता है। केरल में मंदिरों की संख्या बहुत अधिक बताई जाती है। इसका कारण यज्ञ तो संभवतः नहीं हो सकता। वास्तव में, संस्कृत में कुछ मंत्र आदि बोलकर 'स्वाहा-स्वाहा' में साधारण-लोगों को अधिक आनंद की अनुभूति नहीं होते देखकर संभवतः वैदिकों में भी मंदिर-निर्माण की प्रवृत्ति जगी होगी—एसा कुछ इतिहासकारों का मत है। यदि इलंगो अडिकल की अमर-रचना 'शिलप्पादिकारम्' ध्यान से पढ़ें, तो ज्ञात होगा कि ब्राह्मण यज्ञादि में ही अधिक विश्वास करते थे। Shri M.S. Ramaswami Ayyangar, author of 'Studies in South Indian Jainism', opines that, "Idol worship and temple building on a grand scale in South India have also to be attributed to Jain influence. The essence of Brahminism was not idol worship. How came it then that the Dravidians built large temples in honour of their Gods? The answer is simple. The Jains erected statues to their Tirthankaras and other spiritual leaders and worshipped them in large temples. As this method of worship was highly impressive and attractive, it was imitated." (P.77) अपने मत के समर्थन में उन्होंने उन अनेक देव-कुलिकाओं (niches) का उदाहरण दिया है, जो कि शैव-संतों के सम्मान में बहुत अधिक बनाये गये हैं तथा मंदिरों में उन्हें प्रतिष्ठित किया गया है। केरल में अनेक मंदिरों या कोविलों के संबंध में यह कहा जाता है कि वे परशुराम द्वारा दिए गए हैं। ऊपर हम श्री मेनन का यह मत देख चुके हैं कि परशुराम-संबंधी कथा कुछ स्वार्थियों ने अपने मन से गढ़ ली है। यही बात इसप्रकार के मंदिरों पर भी लागू समझी जा सकती है। संभवतः उन पर अधिकार किया गया है। इस पर अनुसंधान होना चाहिए।

संगीत-समयसार

केरल में संगीत के क्षेत्र में 'संगीतशास्त्र' नामक ग्रंथ की प्रसिद्धि है। उसका प्रकाशन त्रिवेन्द्रम् की संस्कृत-सीरीज के अंतर्गत किया गया है। उसके रचनाकार पार्श्वदेव नाम के जैन-आचार्य हैं। इन्होंने मंगलाचरण की प्रथम-पंक्ति में ही समवसरण (तीर्थंकर की उपदेश-सभा) का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने आपको 'सम्यक्त्वचूडामणि' कहा है। 'सम्यक्त्व' एक जैन-पारिभाषिक-शब्द है। इसका नामकरण भी आचार्य ने संभवतः कुंदकुंदाचार्य की बहु-आदृत एवं प्रसिद्ध कृति 'समयसार' के अनुकरण पर किया है, ऐसा प्रतीत होता है। पार्श्वदेव ने अपना परिचय 'दिगंबरसूरि' के रूप में दिया है। इसमें उन्होंने संगीत-प्रतियोगिता के नियम, निर्णायक की योग्यता आदि का भी उल्लेख किया है। लोकव्यवहारसिद्ध-राग के अंतर्गत आचार्य ने कर्णाट, गौड़, द्राविड़ गौड़, द्राविड़ गुर्जरी, दक्षिण गुर्जरी आदि का विवेचन किया है। यह 'संगीत समयसार' कुंदकुंद भारती, नई दिल्ली द्वारा हिंदी-अनुवाद आदि सहित आचार्य बृहस्पति के संपादन में प्रकाशित हो चुका है। प्रश्न किया जा सकता है कि कर्नाटक के इस दिगंबर जैन-साधु को राग, आलाप आदि संगीत की विधाओं से क्या लेना-देना? इसके उत्तर के लिए केरल-कर्नाटक की तत्कालीन परिस्थिति पर विचार करना चाहिए। उन दिनों शैव-वैष्णवभक्ति आंदोलन जोरों पर था। आचार्य की यह भावना रही होगी कि जैनों को भी संगीतमय-भक्ति में पीछे नहीं रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त यह भी स्मरणीय है कि जैनधर्म में तीर्थंकर के सम्मुख नृत्य और गायन की बहुत प्राचीन-परंपरा है। मान्यता है कि तीर्थंकर के जन्म आदि के समय इन्द्र नृत्य करता है। जैन-धार्मिक-उत्सवों के समय आज भी इन्द्र जैसी वेश-भूषा बनाकर संगीत के साथ नृत्य-गायन का आयोजन होता है। मधुर-कंठ का वरदान-प्राप्त जैन-साधु भी संगीतमय-उपदेश देते हैं। राजस्थान में जैन-साधुओं द्वारा 'लावणी' नामक संगीत-रचना का बड़ा प्रचार है। स्वयं पार्श्वदेव ने लिखा है कि "गमकों से मन की एकाग्रता होती है।" तन्मयता भी तो इस एकाग्रता को संभव बनाती है। आचार्य स्वयं भी मीठी तान और लय के धनी रहे होंगे।

चित्रकारी

जैन-मंदिरों में प्राचीनकाल से ही तीर्थंकरों के जीवन, बाहुबलि भगवान् की तपस्या, मुनियों पर उपसर्ग, नेमिनाथ की बारात और उनका वैराग्य, पार्श्वनाथ को कमठ द्वारा ध्यान से विचलित करने के लिए कष्ट दिया जाना, लोभ के परिणाम, तीर्थंकर-माता के स्वप्न, अहिसामयी-वातावरण में सिंह और गाय का एक साथ पानी पीना, गजलक्ष्मी, तीर्थंकर की उपदेश-सभा (समवसरण), प्राकृतिक दृश्य, तीर्थस्थानों के चित्र, धर्मचक्र, कमल, कलश आदि मांगलिक-पदार्थों का चित्रण मंदिर की दीवारों आदि पर किया जाता रहा है।

दक्षिण-भारत के जैन-मंदिरों में भी इसका प्रचलन था। केरल में साष्टांग-प्रणाम करती हुई भक्त-महिला का भी प्रस्तर-अंकन कोविलों में देखा जा सकता है। नागरकोविल के मंदिर

में, शुचीद्रम के कोविल में एवं कुछ अन्य मंदिरों में इसप्रकार के अंकन हैं। संगमकालीन-साहित्य में भी इसप्रकार की चित्रकारी के संकेत मिलते हैं। केरल गजेटियर (P.121) का कथन है, "Sangam classics refer to the figures of Gods and scenes of nature painted on walls and canvas. We are led to believe that the Jains were the first to initiate the practice of painting on the walls."

कार्तिक-दीपम्-उत्सव

केरल में कार्तिक-मास में शानदार तरीके से 'दीपोत्सव' मनाया जाता है। यह उत्सव भी प्राचीनकाल से, कम से कम संगलकाल से चला आ रहा है। गजेटियर ने उसे 'चोल देश' के किसानों से जोड़ने का प्रयत्न किया है। दूसरे उसने यह अनुमान किया है कि प्राचीनकाल के चेर-शासकों के समय में यह उत्सव भगवान् मुरुग के सम्मान में मनाया जाता रहा होगा; किंतु उसके संपादक ने यह स्वीकार किया है कि उन्हें चेर-शासकों के समय के काव्य में ऐसा कोई संदर्भ नहीं मिला। स्पष्ट है कि ये कथन अटकल पर आधारित हैं। केरल में जैनधर्म का प्रचार था, इससे संभवतः इन्कार नहीं किया जा सकता। इस दीपोत्सव का संबंध भी जैन-परंपरा से संबंधित किया जा सकता है।

ईसा से 527 वर्ष पूर्व भगवान् महावीर का निर्वाण आधुनिक पटना के समीप स्थित पावापुरी में कार्तिक मास की चतुर्दशी के अंतिम-प्रहर में 'स्वाति' नक्षत्र में हुआ था। उस समय सर्वत्र शोक छा गया। जिस रात्रि में श्रमण भगवान् महावीर कालधर्म को प्राप्त हुए, यावत् उनके संपूर्ण दुःख पूर्णरूप से नष्ट हो गए, उस रात्रि में कासी-कोसल के नौ मल्ल-राजा और नौ लिच्छवि-राजा, कुल अठारह गणराजा अमावस्या के दिन आठ प्रहर का प्रोषधोपवास करके वहाँ ठहरे हुए थे। उन्होंने यह विचार किया कि "भावोद्योत अर्थात् ज्ञानरूपी प्रकाश चला गया है, अतः हम द्रव्योद्योत करेंगे अर्थात् दीपावली प्रज्वलित करेंगे।" तभी से 'दीपावली' का प्रारंभ हुआ।

ईस्वी सन् 784 में रचित जैन 'हरिवंशपुराण' में आचार्य जिनसेन प्रथम ने स्पष्ट लिखा है कि निर्वाण के समय देवों और मनुष्यों ने भगवान् के शरीर की पूजा की और दीप प्रज्वलित किए। उनके शब्दों में—

ज्वलत्प्रदीपालिकया प्रवृद्धया सुरासुरैः दीपितया प्रदीप्तया ।

तदा स्म पावानगरी समन्ततः प्रदीपितताकाशतला प्रकाशते ॥ 19 ॥

ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादरात् प्रसिद्धदीपालिकयात्र भारते ।

समुद्यमः पूजयितुं जिनेश्वरं जिनेन्द्रनिर्वाणविभूतिभक्तिभाक् ॥ 20 ॥

अर्थ :— उस समय सुर और असुरों के द्वारा जलायी हुई देदीप्यमान दीपकों की पंक्ति से पावानगरी का आकाश सब ओर से जगमगा उठा। उस समय से लेकर भगवान् के निर्वाण-कल्याण की भक्ति से युक्त संसार के प्राणी इस भरतक्षेत्र में प्रतिवर्ष आदरपूर्वक

प्रसिद्ध दीपमालिका के द्वारा भगवान् महावीर की पूजा करने के लिए उद्यत रहने लगे अर्थात् उन्हीं की स्मृति में दीपावली का उत्सव मनाने लगे।”

भारत के जैन आज भी उक्त तिथि को प्रातः 'निर्वाणोत्सव' मनाते हैं। अंतर इतना ही पड़ा है कि 'दीपमालिका' संध्या के समय की जाने लगी है। किंतु दक्षिण जिसमें जैनधर्म का किसी समय अत्यधिक प्रसार था, अब भी प्रातःकाल ही दीपावली मनाता है, जब पावापुरी में मनुष्यों और देवों ने दीपोत्सव किया था। यदि निष्पक्षरूप से विचार किया जाए, तो केरल के 'दीपम् उत्सव' का औचित्य समझ में आ सकता है। संस्कार इतनी जल्दी नष्ट नहीं होते।

केरल में जो प्राचीन जैन-मंदिर ब्राह्मणों के अधिकार में चले गए हैं, उनके बाहर की दीवारों पर एक के ऊपर एक अनेक पंक्तियों में जो सैकड़ों दीप-आधार बने हुए हैं, उनसे ही यह स्पष्ट हो जाएगा कि जैन कितनी धूमधाम से भगवान् महावीर का निर्वाणोत्सव अथवा दीपावली मनाते रहे होंगे।

रथोत्सव

केरल के अनेक मंदिरों में रथोत्सव मनाया जाता है। इसके संबंध में यह अनुमान लगाया गया है कि इस पर बौद्ध-प्रभाव है। गजेटियर (पृ०238) का कथन है कि, "It is contended by some writers that the temple processions in Kerala owe much of their features to Buddhistic ritualistic performances. The elephant procession (Anai Ezhunnallippu) with its accompaniments of Muthukuda, Alavattam, Venchamaram etc. has marked similarity to the processions of the Buddhists." केरल के इतिहास के जानकार यह भलीभाँति जानते हैं कि सातवीं सदी ई० में जब चीनी-यात्री ह्वेनसांग केरल में आया था, तो उसे दिगम्बर-साधु बहुत अधिक संख्या में देखने को मिले थे। और यह कि बौद्धधर्म केरल से नौवीं सदी में ही लुप्त हो गया था। ऐसी स्थिति में लगभग एक हजार वर्ष के बाद भी उसका अनेक मंदिरों के रथोत्सव पर प्रभाव बताना 'ऐतिहासिक खींचातानी' ही मानी जाए, तो कुछ अनुचित नहीं होगा। इसके विपरीत जैनधर्म आज भी केरल में विद्यमान है। उसकी रथोत्सव की परम्परा बहुत प्राचीन है। भादों में दस दिनों के 'पर्युषण-पर्व' के अंत में, महावीर-जयंती तथा नवीन मंदिर या मूर्ति की प्रतिष्ठा आदि अवसरों पर रथयात्रा निकाली जाती है। पिछले दशक में उत्तरभारत में अनेक स्थानों पर 'गजरथ' निकले हैं। इन रथों में हाथी जोते जाते हैं और इन ऊंचे रथों में तीर्थंकर-प्रतिमा विराजमान की जाती है। केरल जैसे हाथी-बहुल प्रदेश में इसप्रकार के गजरथों की परंपरा अतीत में बहुत प्रबल रही हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। हाल ही में 'गोम्मटेश्वर रथ' तथा 'तीर्थवंदना रथ' सारे भारत में घूमा था। इन तथ्यों को देखते हुए जैन-परम्परा पर भी विचार किया जाना चाहिए।

पेरियपुराणम्

'पेरियपुराणम्' तमिल का शब्द है, उसका अर्थ है 'महापुराण'। ईसा की छठी-शताब्दी

में तमिलगम् में जैनधर्म इतना अधिक व्याप्त था कि शैवधर्म के अनुयायियों को इस धर्म के प्रभाव तथा जैनधर्म के अनुयायी 'दुष्ट राजाओं' (evil kings) के इस पुराण पर जैन-प्रभाव है—ऐसा कुछ निष्पक्ष विद्वान् स्वीकार करते हैं।

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और भाषा में भी अर्थात् प्राचीनकाल से ही जैन-ग्रंथों में 63 शालाकापुरुष या श्रेष्ठपुरुषों के जीवन-विवरण उपलब्ध है। इस संख्या में 24 तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती आदि महापुरुषों की गणना है। 'त्रिषष्टिशालाकापुरुषचरित' नाम से स्वतंत्र-ग्रंथ भी है। नौवीं सदी में प्राकृत में रचित 'तिलोयपण्णत्ति' में पूरा विवरण उपलब्ध है।

'पेरियपुराण' पर जैन-प्रभाव के संबंध में इतिहास, पुरातत्त्व की विदुषी प्रो० चंपकलक्ष्मी ने Medieval Bhakti Movements in India नामक अभिनंदन-ग्रंथ में अपने निबंध Religion and Social Change in Tamilnadu (c. 600-1300) में यह मत व्यक्त किया है— "The Saiva hymnists i.e. those who composed the Bhakti hymns, were also of the higher castes but later, in the twelfth century ad at the time of the condification of the Saive canon, a deliberate attempt was made to introduce several fictitious saints in addition to the historical figures to increase the number to 63, many of whom were drawn from low castes including the paraiya or untouchable. The number 63 was a direct borrowal from the Jain Purans dealing with the 63 Salakapurusas or great beings." (P.167)।

'पेरियपुराण' की रचना का एक प्रमुख-कारण एक जैन-ग्रंथ की लोकप्रियता भी था। वह ग्रंथ था तमिलभाषा के श्रेष्ठ पाँच महाकाव्यों में से एक 'जीवकचिंतामणि', जो कि आज भी तमिल में अध्ययन का विषय है। इसमें जैनचरित-ग्रंथों के प्रसिद्ध नायक जीवंधर का चरित्र, उनके अनेक विवाह तथा उनके द्वारा यह प्रतिपादन कि सांसारिक जीवन बिताने के बाद भी यदि संयम धारण किया जाए, तो कर्मबंधनों से मुक्ति संभव है। जीवंधर 'हेमांगद देश' जो कि कर्नाटक में स्थित माना गया है, के शासक थे। वैराग्य होने पर वे महावीर स्वामी की उपदेश-सभा या 'समवसरण' में गए। वहाँ महावीर के प्रमुख शिष्य या गणधर सुधर्म स्वामी ने उन्हें मुनि-दीक्षा दी थी। वे विपुलाचल से संसार-बंधनों से मुक्त हुए। चोल-शासक 'कुलोत्तुंग' को उक्त चरित की प्रसिद्धि से चिंता हुई। इसलिए उसने 'पेरियपुराणम्' की रचना करवाई। ऊपर संदर्भित पुस्तक में श्री एन० सुब्रमण्यम् ने पृ० 185 पर लिखा है, "The story of the circumstances under which the Periyapurānam was written, as tradition has it, indicates the Cola king's anxiety to stop the spreading influence of Jainism made him encourage Sekkilar in the composition of the account of the lives of the Nayanmars."

जगहों के नाम

अयोध्या, नागपुर, उरैयूर, नागपट्टिणम् जैसे स्थल-नाम सांस्कृतिक महत्त्व की सूचना

देते हैं। केरल में भी जगहों के ऐसे नाम हैं, जो यह सूचित करते हैं, किसी समय वे जैनधर्म से संबंधित रहे हैं।

‘पालक्काड’ या ‘पालघाट’ में एक मुहल्ला है, जो कि ‘जैनमेडु’ कहलाता है। उसी में प्राचीन चंद्रप्रभु मंदिर है। उस मुहल्ले में रहनेवाले कुछ तमिल लोगों ने उसका दूसरा ही नाम रख लिया है; किंतु ‘जैनमेडु’ का प्रयोग अभी भी होता है।

जैनधर्म से संबंधित स्थल-नामों का विशेष अध्ययन श्री वी०के०के० वालथ ने विशेष रूप से किया है। उनकी खोज के परिणाम नीचे उल्लिखित प्रकाशनों में उपलब्ध हैं। वे हैं— (1) Jain influence on some Kerala place Names, abstract of the chapter in Studies in Dravidian Place names, publication of Place Names Society, Tiruvananthapuram. (and) Keralathile Sthala Chrithrangal Emakulam Jilla (This book is in Malayam)। श्री वालथ का यह निष्कर्ष है कि, "The words such as Kall (Kallu), Ampalam, Palli, Kottam meaning temple are very ancient and bear the long lasting marks of Jainism." उनका यह मत है कि ये शब्द ब्राह्मणों की संस्कृत में नहीं पाए जाते। उदाहरण के लिए ‘कल्लिल’। यह Kai+il से बना है। ‘कल’ का अर्थ है ‘पाषाण’ और ‘इल’ से आशय है ‘मंदिर’। इस स्थान पर एक गुहा-मंदिर है, जिसमें महावीर, पार्श्वनाथ की मूर्तियाँ पाषाण पर उत्कीर्ण हैं। अब वह ‘भगवती मंदिर’ कहलाता है। कालांतर में ‘कल्लिल’ शब्द का व्यवहार सभी जैन-मंदिरों के लिए होने लगा। ‘कोडंगल्लूर’ का संधि-विच्छेद कर उन्होंने अपने मत की स्थापना की है। इसीप्रकार के अन्य नाम हैं— Kallatikootu, Kalleekkaatu, kallur, kallatippeetta, kalpatti, kalleekkulannara (This was the temple of Ambika now known as Heemambika), Kalpaattinilam, Kalpaattikkunnu etc.

विद्वान् लेखक का मत है कि शंकराचार्य की जन्मभूमि ‘कालडी’ (Kaalati) भी जैनों द्वारा चरण-उत्कीर्ण करने की प्रथा की ओर संकेत कर रही है। वे लिखते हैं, "Engraving the foot prints of Jina on rocks was a usual practice among Jains. The place name Kaalati might have originated in this way." त्रिचूर जिले में ‘कूडलमाणिक्यम्’ नाम का एक मंदिर है, जो किसी समय जैन-मंदिर था। उसमें स्थापित मूर्ति ऋषभ-पुत्र भरत की है, ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। उसका प्राचीन नाम भी श्री वालथ के अनुसार ‘माणिककन कल्लू’ था। ‘शिलप्पादिकारम्’ में एक मंदिर Vellayampalam नाम से उल्लिखित है, जो कि नष्ट हो गया। अब वह स्थान Vellaarapalli कहलाता है। जिनदेव के विशेषण थे— Ponnayirkoon, Ponneyilnathan आदि। जो मंदिर पहाड़ पर हैं, वे Ponmala, Ponmuti आदि नामों से जाने जाते हैं। ईसाइयों का प्रसिद्ध केंद्र Kurismuti पहले Ponmala ही था। श्री वालथ का मत है कि हाथी, अश्व, नाग आदि जैनों के प्रिय प्रतीक हैं। इन प्रतीकों से संबंधित अनेक स्थल-नाम केरल में हैं, जैसे

Anmala, Kutirmala, Kutiraan, Kutiravattaam, Naagmala, Nagampatam etc. इसीप्रकार जैन-साधुओं की स्मृति में निर्मित पाषाण-स्मारकों के कारण भी अनेक स्थल-नामों का विकास हुआ है। —(प्रस्तुत लेखक श्री वालथ का आभारी है)

केरल गजेटियर ने पृ० 229 पर यह उल्लेख किया है कि जैन-साधु चैत्य या विहार में भी रहा करते थे और ऐसे स्थानों को 'कोट्टम' कहा जाता था। इस जानकारी के अभाव में कुछ विद्वान् इन शब्दों को देखते ही उन्हें 'बौद्ध' कह बैठे हैं। इसकी चर्चा 'मूषक-वंश' के प्रसंग में की गई है। डॉ० के०के० पिळ्ळै ने 'तमिलनाडु के विशेष-संदर्भ में भारत का इतिहास' अंग्रेजी में लिखा है। उसका एक अध्याय केरल में जैनधर्म से भी संबंधित है। उसमें आठ बातें ऐसी गिनाई हैं, जिन पर जैन-प्रभाव संभव है। उनका संक्षिप्त उल्लेख यहाँ किया जाता है।

अय्यप्पा

केरल में अय्यप्पा की पूजन का बड़ा महत्त्व है। उसका श्रेय बौद्धों को दिया जाता है। एक लेखक की उद्धरण देकर डॉ० पिळ्ळै यह कहते हैं कि अय्यप्पा और शास्ता के रूप में पूजित देव वास्तव में जैनों का ब्रह्म-यक्ष है, जिसका वाहन गज है। प्रस्तुत लेखक ने भी 'सबरीमला' नामक अध्याय में यह बताया है कि "अय्यप्पा का संबंध बौद्ध-परंपरा से नहीं, अपितु जैन-परंपरा से जान पड़ता है।"

तिरुमेनी-अभिवादन

केरल में परस्पर सम्मानपूर्ण अभिवादन के लिए प्रयुक्त 'तिरुमेनी' शब्द के संबंध में डॉ० पिळ्ळै ने एक महत्त्वपूर्ण सूचना दी है, जो इसप्रकार है— "It is possible that the word 'Tirumeni' is derived from the Jain usage. In kalgumalai of Tirunelveli District, there are some Jain sculptures, the inscriptions below them end with the expression 'Tirumeni' which means 'the sacred image'. Tirumeni is a form of respectful address very common in the Malayalam country. It is not unlikely that this was adopted in Malayalam and Tamil from Jain practice." यह तथ्य भी तमिलनाडु और केरल में जैनधर्म के व्यापक एवं दीर्घस्थायी प्रभाव का प्रमाण प्रस्तुत करता है।

रत्नत्रय और मोक्षमार्ग

इतिहासकार डॉ० पिळ्ळै ने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि केरली संस्कृति में जैनों के योगदान का आकलन केवल मंदिरों से ही किया जाना उचित नहीं है। उन्होंने जैनधर्म के तीन रत्नों या रत्नत्रय एवं मोक्षमार्ग का उल्लेख करते हुए जैनधर्म की राग-द्वेष पर विजय, अहिंसा और अपरिग्रह की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है। उनका मत है कि, "All these principles were adopted in Kerala as well as the rest of the country" उन्हें इस बात पर भी आश्चर्य है कि केरल में कोई प्रमुख जैन-आचार्य नहीं हुआ। प्रस्तुत लेखक को भी इस पर आश्चर्य है। या तो जैन-ग्रंथ नष्ट कर दिए गए या

उनका अभी सर्वेक्षण ही नहीं हुआ है। जैन-मंदिरों के साथ शास्त्र-भंडार भी हुआ करता है। मंदिर में लोग उनका स्वाध्याय भी करते हैं। यदि केरल के जैन-आचार्यों ने स्वयं ग्रंथ नहीं लिखे, तो कम से कम कुंदकुंदाचार्य जैसे आचार्यों के ग्रंथ तो उपलब्ध होने चाहिए। इस संबंध में भी अनुसंधान की आवश्यकता है।

जीव-कारुण्यम् संस्कृति

डॉ० चंद्रशेखर नायर ने केरल के जातिवाद-विरोधी एवं प्रमुख आधुनिक समाज-सुधारक या लोगों को वर्णवाद के कठोर पंजे से मुक्ति दिलानेवाले 'चट्टम्पि स्वामी' की एक जीवनी 'महर्षि श्री विद्याधिराज तीर्थपाद' नाम से प्रकाशित की है। स्वामीजी का समय उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्ध और बीसवीं सदी का प्रारंभ है। उन्होंने 'प्राचीन मलयालम' और 'जीवकारुण्यम्' जैसे ग्रंथों में नाग-लोगों की संस्कृति के संबंध में पर्याप्त-प्रकाश डाला है। उनके शिष्य श्री नारायण गुरु भी केरल में उनके ही समान पूज्य हैं। चट्टम्पि स्वामी जीव-हिंसा के कट्टर-विरोधी थे। 'जीवकारुण्यम्' में उन्होंने लिखा है कि "महान् लोगों ने 'अहिंसा परमोधर्मः' का ही उपदेश दिया है।" यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि बहुत अधिक संख्या में जैन-स्मारक केरल में किसी न किसी कारण नष्ट हो चुके हैं, तथा प्राचीनकाल में अहिंसापूर्ण-संस्कृति ही केरल की मुख्य-संस्कृति थी।

कल्याणम्

दक्षिण-भारत में, जिसमें स्पष्ट ही केरल भी शामिल है, विवाह के लिए 'कल्याणम्' शब्द प्रचलित है। इस संस्कृत शब्द का अर्थ है— मंगल, भलाई, शुभ-कर्म आदि। इसमें विवाह का अर्थ कैसे आ गया? यदि विवाह को एक उत्सव मानें, तो इस शब्द में जो नवीन अर्थ आ गया है, उसे समझा जा सकता है। जैन-परंपरा के अनुसार किसी भी तीर्थंकर के पाँच कल्याणक या महोत्सव होते हैं। वे इसप्रकार हैं— गर्भ, जन्म, तप, केवलज्ञान और निर्वाण। इसके अतिरिक्त जब कभी किसी मूर्ति की प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है, तब भी ये उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाए जाते हैं। प्राचीनकाल में केरल सहित तमिलनाडु में जैनधर्म का बड़ा प्रभाव था। छठी-सातवीं शताब्दी में तो ऐसा लगता था कि सारा तमिलदेश जैन हो जाएगा, इसलिये यह संभावना सामने आती है कि इन महोत्सवों के अनुसरण पर विवाह को भी 'कल्याणम्' कहा जाने लगा होगा। इस सांस्कृतिक-संभावना पर भी विचार किया जा सकता है।

जैनधर्म केरल में आज भी जीवित है। उसके अनुयायियों की वर्तमान-संख्या को ध्यान में रखकर संभवतः इसप्रकार के निष्कर्ष यदि निकाले जायें, तो यह शुभ नहीं है।

संस्कृति-चाहे वह केरल की हो या अन्य किसी भूभाग की, वह एक समुद्र के समान है। उसमें नदियों की अनेक धारायें आकर मिलती हैं। फिर भी किसी एक ही धारा को प्रधानता देना या शुष्कधारा को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देना और आज भी प्रवहमान धारा का गौण करना सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से कहाँ तक उचित है? ❖❖

**श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वदपरिषद् के 19वें अधिवेशन में
अहिंसा स्थल पर दिनांक 17.11.2001 को पं. प्रकाशचंद शास्त्री 'हितैषी' का
अध्यक्षीय भाषण**

यदीया वाग्गंगा विविधनयकल्लोल-विमला,
वृहज्जानांभोभिर्जगति जनतां या स्तपयति ।
इदानीमप्येषा बुधजनमरालैः परिचिता,
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥ 6 ॥

धर्म-परंपरा

आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव की दिव्यदेशना से प्रारंभ होकर अंतिम-तीर्थंकर भगवान् महावीर एवं अंतिम-श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु तक उस दिव्यदेशना से प्रभावित मुखाग्र ही ज्ञानगंगा प्रवाहित होती रही है। पश्चात् आचार्य कुंदकुंद, पुष्पदंत, भूतबलि आदि आचार्यों द्वारा शास्त्ररचना द्वारा चारों अनुयोगों की चतुर्धारूप ज्ञानवाहनी संतप्त-प्राणियों को शाश्वत-शांति प्रदान करती रही। इसके पश्चात् बहुश्रुताभ्यासी विद्वान् पं० आशाधर जी, पं० टोडरमल जी, पं० दौलतराम जी, पं० बनारसीदास जी, पं० भूधरदास जी आदि विशिष्ट विद्वानों द्वारा जिनवाणी-माता का श्रुतभण्डार भरा जाता रहा है, जिससे जिनधर्म की अक्षुण्ण-परम्परा प्रवाहित होती रही है।

उसी परंपरा की बागडोर गुरु गोपालदास जी बरैया, ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी, क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी आदि ने समर्पण-भाव से इसे सम्भालकर उसका यथाशक्ति प्रचार-प्रसार किया। इससमय तक विद्वानों का कोई संगठन नहीं होने से धर्मप्रचार का कार्य सुसंगठित होकर करने की आवश्यकता महसूस करते हुए पूज्यपाद क्षु० गणेशप्रसादजी वर्णी ने 1944 ई० में विशिष्ट विद्वानों की उपस्थिति में कलकत्ता में 'वीरशासन जयंती' के सुअवसर पर इस 'विद्वदपरिषद्' की स्थापना की थी।

इस परिषद् की सक्रिय कार्यक्षमता को बढ़ाने के लिये पं० बंशीधर जी न्यायालंकार इन्दौर, पं० जगन्मोहनलाल जी सिद्धान्त शास्त्री, पं० कैलाशचन्द जी सिद्धान्ताचार्य, पं० फूलचन्द जी सिद्धान्ताचार्य, पूज्यपाद गणेशप्रसाद जी वर्णी, पं० दयाचन्द जी सिद्धान्त शास्त्री सागर, पं० जीवंधर जी शास्त्री, पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य सागर, पं० नेमिचंद जी ज्योतिषाचार्य, डॉ० कोठिया जैसे दिग्गज गणमान्य विद्वानों ने विद्वानों में एकता एवं धर्मप्रचार प्रसार करने के लिए

अपनी अध्यक्षता के काल में उल्लेखनीय कार्य किये हैं। उसी विद्वद्-परिषद् की अध्यक्षता मुझ जैसे अल्पज्ञ को सौंपी गई है, जिसका निर्वहण आप सब विद्वानों के सहयोग से संभव हो सकेगा।

पूज्य वर्णी जी का लगाया गया यह धर्मप्रभावक-पौधा अपनी गतिशीलता को बनाये रखे, इसके लिए हमारा और आपका परम-कर्तव्य हो जाता है कि इसके लिए सर्वप्रथम आवश्यकता है—विद्वानों का आपसी सौहार्द, वात्सल्य, एकता और रुचि की प्रकर्षता। आप और हम सब मिलकर संगठित होकर ही धर्मप्रभावना का कार्य संपन्न कर सकते हैं।

आदर्श विद्वज्जीवन

आचार्य अमृतचन्द्र ने 'प्रभावना' की परिभाषा करते हुए कहा है—

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव ।

दान-तपो-जिनपूजा-विद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥ —(पुरुषार्थ सि०उ० 30)

धर्मप्रभावना करनेवाले को सर्वप्रथम अपनी आत्मा को रत्नत्रय के तेज से प्रभावित करना चाहिए। पश्चात् दान, तपश्चरण, जिनेन्द्र पूजा एवं विद्या के प्रचार द्वारा धर्म की प्रभावना करनी चाहिए। यहाँ धर्मप्रभावना के लक्षण में आचार्यश्री ने संकेत दिया है कि धर्मप्रभावना का कार्य स्वयं की आत्मप्रभावना से प्रारंभ करना चाहिए, तभी दान, तप जिनेन्द्रपूजा और जिनविद्या के प्रचार-प्रसार से धर्म की सच्ची प्रभावना हो सकती है। क्योंकि नेत्रविहीन व्यक्ति दूसरों को मार्गदर्शन कैसे करा सकता है?

पूज्य वर्णीजी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था—“विद्वानों से क्या कहूँ, उनसे तो मैं यही चाहता हूँ कि आप जैनसमाज के मार्गदर्शक हैं, अतः अपने आपको इतना निर्मल बनाओ कि समाज आपको देखकर ही जैनधर्म समझ जाए।”

एक नीतिकार ने 'पंडित' की परिभाषा करते हुए कहा है—

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत् ।

आत्मवत् सर्वभूतेषु यः जानाति सः पण्डितः ॥

जो परस्त्री को माता के रूप में देखता है, एवं पर धनादि को मिट्टी के ढेले के समान देखता है, और अपनी आत्मा के समान सभी आत्माओं को जानता है, वही पंडित है। ऊपर के दो उद्धरण सदाचार से संबंधित हैं और नीचे का उद्धरण सम्यक्-विचार से संबंधित है। विद्वान् सभी आत्माओं में कारण-परमात्मा के दर्शन करता है, अतः उसका कोई विरोधी कैसे हो सकता है? वह भूले हुए पर ही घृणा नहीं, करुणा करता है। क्योंकि पथ भूले हुए को मार्गदर्शन देना धर्मात्मा का परम-कर्तव्य होता है। वह किसी को भी दुतकारेगा थोड़े ही? वह तो सब तरह से सहयोग देकर उसे मार्ग दिखायेगा। पूज्यश्री आचार्य प्रवर विद्यानंद जी के शब्दों में— “मत ठुकराओ, गले लगाओ, धर्म सिखाओ।”

विद्वान् धर्मात्मा की विश्वमैत्री की दृष्टि होती है। उसका कोई दुश्मन कैसे हो सकता है? जो सच्चा जैन है उसका कोई दुश्मन नहीं होता और जिसका कोई दुश्मन होता है,

वह जैन नहीं होता' क्योंकि वह मानता है कि मेरा कोई बिगाड़-सुधार कर ही नहीं सकता है, सभी अपनी करनी का ही फल पाते हैं। कहा भी है—

“स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।

परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं स्वयंकृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥”

अर्थ— जीव जैसा कर्म करता है, उसी का फल पाता है। कोई एक-दूसरे को पुण्य-पाप का फल देने लगे तो अपना पुण्य पाप करना व्यर्थ हो जायेगा।

विद्यमैत्रीभाव

अतः जैन विद्वान् का कोई दुश्मन नहीं होता और जिसका कोई दुश्मन होता, वह जैन विद्वान् नहीं होता। आचार्य कुंदकुंद ने कहा है—

पाणा जीवा पाणाकम्मं पाणाविहं हवे लद्धी।

तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो ॥ —(नियमसार 156)

अर्थ— नानाप्रकार के जीव हैं, उनके नानाप्रकार के कर्म हैं, नानाप्रकार की लब्धि हैं, इसलिए स्वसमय, परसमय (साधर्मी, विधर्मी) के साथ वचन-विवाद वर्जनीय है।

अतः परस्पर में जो मतभेद देखने में आते हैं, वे अनादि से होते आये हैं। किन्तु आपस में घृणा द्वेषभाव, विरोध, बहिष्कार को जैनधर्म में कहाँ स्थान है? ये तो अज्ञानियों का काम है, ज्ञानी को पर से उलझने का अवकाश ही कहाँ मिलता है? अज्ञानी जीव ही इन उलझनों में अपना समय और शक्ति व्यर्थ बर्बाद करता है; क्योंकि यह तो अधोगमन का खोटा-कार्य है।

अतः यह जो आपस में कुछ विरोध दिख रहा है, यह ज्ञानवान् जैन-विद्वान् का कार्य तो हो ही नहीं सकता। जैनधर्म तो यह पाठ पढ़ाता है—“मिच्छी मे सव्वभूदेसु” जीवमात्र से मेरा मैत्रीभाव हो। किसी से भी बैरभाव न रहे। यह जैनधर्म और जैनत्व की पहिचान है।

सच्चा जैन-विद्वान् अपना समय और अपनी शक्ति स्वपर-हित में लगायेगा या बर्बाद करने में लगायेगा? एक शायर ने कहा है—

आये थे फूल तोड़ने बागे-हयात में।

दामन को खार-जार में उलझा के रहे गये ॥।

आचार्य उमास्वामी ने कहा है—

“परात्मनिंदाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥” —(तत्त्वार्थ, 6/25)

दूसरों की निंदा करना, अपनी प्रशंसा करना, अपने गुणों को प्रगट करना, दूसरों के गुणों को ढँकने से 'नीचगोत्रकर्म' का बंध होता है।

वस्तुस्वरूप का निर्णायक नयज्ञान

ज्ञानी-विद्वान् तो विशेष-ज्ञानी को देखकर प्रमुदित हो जाता है। आजकल आपस में जो विवाद चल रहा है, उसका कारण नयविभाग की अज्ञता है। जिनागम में कहीं निश्चयनय की प्रधानता से कथन है, तो कुछ (प्रथमानुयोग, करणानुयोग और चरणानुयोग) में

व्यवहारप्रधान कथन मिलेगा। निश्चयनय वस्तु के शाश्वत-स्वभाव को बतलाया है, तो व्यवहारनय भेद और संयोगों का ज्ञान कराता है। श्रद्धान और ध्यान शाश्वत-स्वभाव में अपनत्व स्थापित कर किया जाता है। ज्ञान, भेद और संयोगों का भी किया जाता है। किन्तु जो ज्ञान भेदों के द्वारा अभेद को और संयोगों का ज्ञान करके असंयोगी का ज्ञान करता है, वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है; और जो ज्ञान के भेदों में और संयोगों में स्वत्व स्थापित कर इनमें ही अटककर रह जाता है, वह ज्ञान विपरीतज्ञान है। इसीलिए व्यवहार को हेय (त्याज्य) कहा है। जैसे सीढ़ियों का ज्ञान भी करना है, और छोड़ना भी है। लक्ष्य में ऊपर की मंजिल पर पहुँचना है। अतः आत्महितार्थ वस्तुस्वरूप समझने के लिए ज्ञान दोनों नयों का करना है; किन्तु श्रद्धान और ध्यान शाश्वत-स्वरूप का ही किया जाता है। इसलिये आचार्यप्रवर कुंदकुंद ने निर्देश दिया है—

एवं व्यवहारणो पडिसिद्धो जाण णिच्छयणएण ।

णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावन्ति णिव्वाणं ।। —(समयसार 272)

अर्थ:— व्यवहारनय निश्चयनय के द्वारा निषिद्ध है; क्योंकि निश्चयनयाश्रित मुनि ही निर्वाण को पाते हैं ।

अर्थ:— अतः दोनों नयों का ज्ञान करना आवश्यक है, क्योंकि दोनों ही सम्यग्ज्ञान के भेद हैं। किन्तु व्यवहार मात्र ज्ञेय है, निश्चयनय ज्ञेय भी है और उपादेय भी है।

आचार्य अमृतचंद्र ने एक यह गाथा उद्धृत की है—

जदि जिणमदं पवज्जह ता मा व्यवहारणिच्छए मुणह ।

एक्केण विणा छिज्जदि तित्थं अण्णेण पुण तच्चं ।।

अर्थ:— यदि जिनमार्ग में प्रवर्तन करना चाहते हो, तो निश्चय-व्यवहार में से एक को भी मत छोड़ो; क्योंकि व्यवहार के बिना तीर्थ का लोप हो जायेगा और निश्चय के बिना वस्तुस्वरूप का लोप हो जायेगा।

व्यवहार की दृष्टि तो अनादिकाल से है, इसलिये ऐसे जीव को व्यवहारमूढ़ कहा है। क्योंकि वह व्यवहार के ज्ञान का प्रयोजन ही नहीं जानता है। व्यवहारनय वही सच्चा व्यवहार है, जो निश्चयनय के ज्ञान की ओर जाने का संकेत कर रहा हो। ये दोनों नय प्रमाणज्ञान (सम्यग्ज्ञान) के अंश हैं। इनका काम वस्तु पर प्रकाश डालना है। ये स्वयं वस्तु नहीं है। ये तो दीपक का काम करते हैं। दीपक वस्तु को प्रकाशित करता है। दीपक स्वयं प्रकाशित वस्तुस्वरूप नहीं है। अतः नयों का यथार्थ ज्ञान होना आवश्यक है।

माइल्ल धवल ने अपने 'नयचक्र' में कहा है—

जे णयदिट्ठिविहीणा ताण ण वत्थुसहाव-उवलद्धि ।

वत्थुसहाव-विहूणा सम्मादिट्ठी कहं हुंति ।। —(नयचक्र 181)

अर्थ:— जो व्यक्ति नय के यथार्थस्वरूप को नहीं जानते हैं, उनको वस्तुस्वरूप का यथार्थज्ञान

नहीं हो सकता है और वस्तुस्वरूप के ज्ञान के बिना वे सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं?

‘धवला’ सिद्धान्त-शास्त्र में भी कहा है—

णत्थि णएहि विहूणं सुत्तं अत्थोव्व जिणवरमदम्मि ।

तो णयवादे णिवुणा मुणिणो सिद्धंतिया होंति ।।

—(धवला पु० 1, खंड 1, भाग 1, गाथा 68)

अर्थ— जिनेन्द्र भगवान् के मत में नयवाद के बिना सूत्र और अर्थ कुछ भी नहीं कहा गया है, इसलिए जो मुनि नयवाद में निपुण होते हैं, वे ही सच्चे सिद्धान्त के ज्ञाता हैं।

अतः नयों का यथार्थज्ञान और उनका यथार्थ यथायोग्य प्रयोग जानना अति-आवश्यक है। यह सब कहने का प्रयोजन यही है कि नय का यथार्थज्ञान शून्य होने से विवाद खड़े होते हैं। अतः मनीषी विद्वद्गणों से सविनय प्रार्थना है कि नयों की प्रयोग-पद्धति को यथार्थ आगमानुसार समझकर विवादों को समाप्त कर एक-दूसरे के विचारों को सुनने-समझने का सौजन्य प्रदर्शन कर भगवान् महावीर के शासन को मिल-जुलकर विस्तारित करने में अपना अमूल्य सहयोग प्रदान करें।

भावी कर्त्तव्य

अपने बड़े पुण्यकर्म के उदय से जैनधर्म का तत्त्वज्ञान प्राप्त करने का सुअवसर मिला है, तो उसका स्वपर-हित में प्रयोगकर अपनी विद्वत्ता को सार्थक करें। दिगम्बर जैन-विद्वानों के समक्ष धर्मप्रचार का बहुत बड़ा क्षेत्र खाली पड़ा है। उसे भरने के लिए अपनी शक्ति और समय का सदुपयोग करें। वह धर्मप्रचार का खाली क्षेत्र इसप्रकार भरा जा सकता है—

1. प्रत्येक विद्वान् अपने ग्राम नगर के निवास स्थान में प्रातः सायं सरल भाषा में पात्रता के अनुरूप स्वाध्याय, प्रवचन अवश्य करें।
2. जैन बालकों में जैन-संस्कार डालने के लिए जैन-पाठशालायें स्थापित करारकर पूजनादि की विधि का प्रयोग करना अवश्य सिखायें। जैसे अवकाश के दिन उनसे विधिपूर्वक पूजनादि कराना और पूजन का प्रयोजन और भाव सिखाना आदि।
3. बच्चों में जैनत्व के प्रति आकर्षण पैदा करने के लिए बालोपयोगी सरल सचित्र-साहित्य की रचना कराना और बच्चों में वितरण करना। सरल-भाषा में सचित्र जैन-कथा, कहानी, नाटक आदि की पुस्तकें प्रकाशित कराना।
4. जैन विद्वानों को स्वयं धोती दुपट्टा पहिनकर पूजन करना, कराना चाहिए। इससे समाज में अच्छा प्रभाव पड़ता है। शास्त्र की गद्दी पर भी धोती पहिनकर ही बैठें।
5. रात्रिभोजन और अभक्ष्यभक्षण का जैन-विद्वानों में त्याग होता ही है। क्योंकि यह जैनाचार का प्रमुख अंग है। रात्रिभोजन का बहुत प्रचार हो रहा है, अतः जैनसमाज को उसकी हानि-लाभ का दिग्दर्शन कराना है।
6. ऐसे जैन-साहित्य की बहुत बड़ी आवश्यकता है, जिसमें विज्ञान के माध्यम से जिनेन्द्र

- की भक्ति, रात्रिभोजनत्याग की एवं जल छानने की उपयोगिता दिखाई गई हो ।
7. जिसमें जैनधर्म का मूल तत्त्वज्ञान, भगवान् की वीतरागता सर्वज्ञता एवं विश्व-व्यवस्था का परिचय हो । जिसमें निश्चय-व्यवहार की यथार्थ संधि हो, ऐसा साहित्य प्रकाशित करना । क्योंकि तत्त्वज्ञान के बिना सभी ज्ञान अज्ञानमय संसार का ही कारण है ।
8. जिनागम की वाचना एवं धार्मिक शिक्षण-शिविर का आयोजन कराकर धर्मप्रचार कर सकते हैं ।

धर्म-महिमा

कहा भी है—

जिनधर्म-विनिर्मुक्तो माभूव चक्रवर्त्यपि ।

स्याद् चेटोऽपि दरिद्रोपि जिमधर्मानुवासितम् ।। —(जिनेन्द्र स्तुति)

अर्थ— जैनधर्म (तत्त्वज्ञान) शून्य चक्रवर्ती का पद भी नरकादि गति का कारण बनता है । यदि दुःखी दरिद्री भी तत्त्वज्ञानी हो, तो वह उस अवस्था में भी सुखी है ।

जैनधर्म की महिमा गाते हुए कवि कहता है—

महापापप्रकृतोऽपि प्राणी श्रीजैनधर्मतः ।

भवेत् त्रैलोक्य-संपूज्यो धर्मात् किं भो परं सुखम् ।।

अर्थ— पापी से पापी व्यक्ति भी जैनधर्म की शरण में आकर त्रिलोक पूज्य परमात्मा बन जाता है । धर्म से बढ़कर दूसरा कौन सुखदायी हो सकता है ।

अंतिम विनय

अतः सब विद्वान् मिलकर जैनधर्म की ध्वजा को विश्वांगण में फहरायें और जैनत्व की महिमा बढ़ायें । विद्वत्ता पाने का यही सार्थक प्रयोग है ।

आपस में मतभेद हो सकते हैं; किन्तु विद्वानों में मनभेद, एक-दूसरे के प्रति घृणा और द्वेषभाव और नीचा दिखाने की भावना विद्वत्ता नहीं है । ये पर्यायों की क्षणिक भूल समय पाकर दूर हो सकती है । पर्यायों के भीतर कारण परमात्मा बैठा है, वह तो शाश्वत एक-सा सभी में है । उसकी दृष्टि से सब बैर-विरोध समाप्त हो जायेंगे । अतः आओ ज्ञान की गंगा में स्नान कर विद्वत्ता को यथार्थ करें । इसी शुभ भावना के साथ आप सबसे विनय है । ❖❖

नंदावर्त आदि शुभ-चिह्न

“सिरिवच्छ-कलस-संख-सोत्थिय-गंदावत्तादीणि संठाणाणि णादव्वाणि ।”

—(आचार्य धरसेन, छक्खण्डागम, 13-58, पृ० 296)

यानि — श्रीवत्स, जलभरा हुआ कलश (कुम्भ), दक्षिणावर्त शंख, स्वस्तिक और नंदावर्त आदि आकार 'शुभ-चिह्न' के रूप में जानने योग्य है ।

स्वस्तिक अर्थात् स्वका अस्तित्व स्वीकारना आस्तिक-रचना का लक्षण है । ●●

आध्यात्मिक गीत

—विद्यावारिधि डॉ० महेन्द्र सागर प्रचंडिया

जीवनभर उपदेश दिये पर,
निज को हम पहिचान न पाए !

चौरासी भव-भव घूमे हैं,
अनगिन मरन-चरन चूमे हैं,
जाने कितने जनम लिए पर, जनम-धरम को जान न पाए ।
जीवनभर उपदेश दिये पर, निज को हम पहिचान न पाए ॥ 1 ॥

लिया जनम जब कुल कुलीन में,
बिता दिया सब पर-अधीन में,
नहीं बने स्वाधीन अन्त तक, कर्मचक्र पहिचान न पाए ।
जीवनभर उपदेश दिये पर, निज को हम पहिचान न पाए ॥ 2 ॥

गुरु-कुल के सारे गुन धारे,
घेरे रहे अज्ञ अंधियारे,
पढ़ीं पोथियाँ जीवनभर पर, दर्शन-ज्ञान हाथ नहीं आए ।
जीवनभर उपदेश दिये पर, निज को हम पहिचान न पाए ॥ 3 ॥

तीर्थ गए, तीर्थकर पूजे,
उर में स्वारथ के स्वर गूँजे,
मोह-नीद में अब तक सोए, अंत-समय तक जाग न पाए ।
जीवनभर उपदेश दिये पर, निज को हम पहिचान न पाए ॥ 4 ॥

घर में घिरते रहे रात-दिन,
हुआ अन्त तक नहीं जागरन,
लखते रहे रूप ले दर्पन, पर स्वरूप को जान न पाए ।
जीवनभर उपदेश दिये पर, निज को हम पहिचान न पाए ॥ 5 ॥ ❖❖

‘रयणचूडरायचरियं’ में वर्णित नगर

—डॉ० हुकम चन्द जैन

12वीं शताब्दी में आचार्य नेमिचन्द्र सूरि हुए हैं, जो आगम, दर्शन एवं कथा-साहित्य के उत्कृष्ट विद्वान् थे। इन्होंने अपने साहित्य में प्राकृत के साथ संस्कृत एवं अपभ्रंश के शब्दों का भी प्रयोग किया है, जो समास-अल्प पदावली से युक्त है। राजस्थान एवं गुजरात में रहते हुए नेमिचन्द्र सूरि (दिवेन्द्र गणि) ने आख्यानकमणिकोश, उत्तराध्ययन की सुखबोधा टीका, महावीरचरियं, आत्मबोधकुलक (धर्मोपदेशकुलक) तथा रयणचूडरायचरियं की रचना की।

नेमिचन्द्रसूरि की ‘रचणचूडरायचरियं’ अन्तिम रचना है। इस कथा को लेखक ने छह भागों में विभक्त किया है। मूलकथा के साथ-साथ ग्रन्थ में 45 अवान्तर-कथाओं का समावेश हुआ है, जो नायक के चरित्र को विकसित करने में सहायक है। आचार्य नेमिचन्द्रसूरि ने दान, शील, तप और भावना के महत्त्व को समझाने के लिए बकुलमाली के पूर्वभव की कथा के रूप में ‘रयणचूड’ की कथा आयी है। भाषा-शैली एवं सांस्कृतिक-सामग्री की दृष्टि से यह काव्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कवि ने काव्यात्मक-पक्ष को भी सशक्त बनाया है। कवि का यह ग्रन्थ गद्य की उत्कृष्टता में ‘समराइच्चकहा’ एवं बाणभट्ट की ‘कादम्बरी’ से पीछे नहीं है। उन्होंने अपने ग्रन्थ में तत्कालीन लोक-संस्कृति, शिक्षा एवं कला की महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की है। सांस्कृतिक धरातल के साथ-साथ ‘रयणचूडरायचरियं’ में जनपद, नदी, पर्वत तथा विभिन्न शहरों का भी उल्लेख है। इस निबन्ध में कतिपय नगरों का ही परिचय देने का प्रयत्न किया गया है।

इस ग्रन्थ में अमरावती, उज्जैनी, कंचनपुर, कुंडलपुर, गजपुर, नंदीपुर, पद्मसंड, पद्मावती, पद्मोत्तर, पाटलिपुत्र, प्रियंकरा, पोदनपुर, पुण्डगिरिणी, भूतमाल, मलयपुर, रत्नपुर, रत्नसंचया, वणसाल, विजयखेड़ा, विश्वपुर, शंखपुर, सुभगा, सुरतिलक, सुरसेल, सोपारक, हर्षपुर, हस्तिनापुर, हेमागर और क्षेमंकरा आदि 35 नगरों का उल्लेख मिलता है। ग्रन्थ में उल्लिखित कुछ नगर भारत के प्राचीन विशिष्ट नगर थे। इनका संक्षिप्त परिचय निम्नानुसार है—

अमरावती नगरी :— इसका उल्लेख ‘राजहंसी’ की प्राप्ति में हुआ है। अमरावती नगरी को स्वर्गपुरी के समान सुन्दर बताया गया है।¹ जिनसेन के ‘आदिपुराण’ में भी अमरावती को ‘इन्द्रनगरी’ कहा गया है।² ज्ञात होता है कि वर्तमान में नागपुर के पास स्थित

अमरावती का ही यह प्राचीन उल्लेख है।

उज्जैनी :— रत्नचूड में उज्जैनी नगरी का वर्णन अमरदत्त और मित्रानंद की कथा के प्रसंग में कई बार हुआ है।³ उज्जैनी नगरी के संबंध में विद्वानों ने बहुत कुछ प्रकाश डाला है।⁴ इसके अवन्ती, उज्जयिनी आदि नाम भी मिलते हैं।

कंचनपुर :— आचार्य नेमिचन्द्रसूरि ने कलिंग-प्रदेश में 'कंचनपुर' को स्थित बतलाया है। यह कंचनपुर कलिंग की राजधानी थी, जो सातवीं शताब्दी में 'भुवनेश्वर' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ग्रन्थ के वर्णन के अनुसार यह एक समृद्ध नगर था। यह अपनी समृद्धि, धार्मिकता और पवित्रता के लिए प्रसिद्ध था।

गजपुर :— ग्रन्थ में कुरु-जनपद के अलंकार के रूप में 'गजपुर' नगर का उल्लेख हुआ है। कवि ने इस नगर का काव्यात्मक वर्णन किया है। यह नगर ग्रन्थ (रघुननचूडरायचरियं) के नायक रत्नचूड का जन्म-स्थान था। प्राचीन ग्रन्थों में गजपुर के कई उल्लेख प्राप्त होते हैं। इसके कई नाम थे। जातकों में 'गजपुर' को 'इन्द्रप्रस्थ' कहा गया है। 'वसुदेवहिण्डी' में इसे 'ब्रह्मस्थल' कहा गया है। वर्तमान में इसे 'हस्तिनापुर' कहा जाता है। गजपुर जैन-साहित्य का प्रसिद्ध नगर है।⁵ रघुचणचूड के समकालीन-ग्रन्थ 'भविसयत्तकहा' में भी गजपुर का उल्लेख हुआ है और संयोग से वहाँ भी वह नायक भविष्यदत्त की जन्मभूमि बताया है।

नन्दीपुर :— ग्रन्थ में तिलकसुन्दरी की जन्मभूमि के रूप में 'नन्दीपुर' नगर का वर्णन कवि ने किया है। यह नगर 'संडिप्रभ' जनपद में स्थित था। इससे ज्ञात होता है कि गजपुर और नन्दीपुर दोनों ही वर्तमान उत्तरप्रदेश के नगर थे। नन्दीपुर के प्राचीन उल्लेख भी मिलते हैं।⁶ इसकी पहचान 'फैजाबाद' से आठ-नौ मील की दूरी पर स्थित 'नन्द' गाँव से की जा सकती है।⁷

पद्मावती नगरी :— पुरुषोत्तम राजा के कथा के प्रसंग में 'पद्मावती नगरी' का उल्लेख हुआ है। जहाँ से वह राजा स्वप्नसुन्दरी को लेने के लिए प्रियंकरा नगरी को गया था।⁸ पद्मावतीपुर का उल्लेख 'यशस्तिलक' में भी हुआ है। डॉ० गोकुलचन्द्र जैन ने इसकी पहचान 'पवाया' गाँव से की है।⁹

पाटलिपुत्र :— ग्रन्थ में इसका उल्लेख अमरदत्त और मित्रानंद की कथा में हुआ है। पाटलिपुत्र एक प्रसिद्ध कलात्मक मंदिर होने की बात ग्रन्थकार ने कही है। पाटलिपुत्र से 'सोपारक' और सोपारक से 'उज्जैनी' तथा उज्जैनी से पाटलिपुत्र की यात्रा मित्रानंद ने की थी। इससे ज्ञात होता है कि ये तीनों नगर स्थलमार्ग से जुड़े हुए थे। पाटलिपुत्र का उल्लेख जैन-साहित्य में बहुत आया है,¹⁰ इसे आजकल 'पटना' कहते हैं।

पोदनपुर :— श्री विजय और सुतारा की कथा-प्रसंग में पोदनपुर का उल्लेख ग्रन्थ में हुआ है। जैन-साहित्य में पोदनपुर के कई उल्लेख हैं। यह नगर गोदावती के तट पर दक्षिण-भारत में स्थित था।

रत्नपुर :— ग्रन्थ में इसका उल्लेख सत्यभामा और कपिल की कथा के प्रसंग में आया है। रत्नपुर नाम के कई नगर प्राचीन भारत में थे। समराइच्चकहा, कुवलयमाला,

आदिपुराण आदि ग्रन्थों में रत्नपुर के उल्लेख मिलते हैं। यह रत्नपुर प्रसंग के अनुसार कौशल-जनपद में होना चाहिए।

रत्नसंचया नगरी :— इसका उल्लेख वज्रायुद्ध राजा की कथा के प्रसंग में हुआ है। यह रत्नसंचया नगरी 'मंगलावती देश' में स्थित थी। इसका उल्लेख 'आदिपुराण' (19-46) तथा 'भविसयत्तकहा' में भी हुआ है।

रथनुपुर :— यह विजयाब्द की दक्षिण श्रेणी में स्थित था। 'आदिपुराण' (19-46), 'समराइच्चकहा' तथा 'भविसयत्तकहा' आदि में इस नगर के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

सोपारक नगर :— इस नगर का वर्णन 'रयणचूडरायचरियं' में अमरदत्त और मित्रानंद की कथा के प्रसंग में आया है। जिसमें मित्रानंद अपने मित्र अमरदत्त की शालभजिकारूपी सुन्दरी का पता लगाने के लिए पाटलीपुत्र से सोपारक एवं सोपारक से उज्जैनी जाता है तथा उज्जैनी से सीधा पाटलीपुत्र की लम्बी यात्रावाला आने-जाने का मार्ग एक महीने में तय कर लेता है। यह 'सोपारक' गुजरात में ही है। जिसकी पहचान कई लोगों ने की है। जिसका उल्लेख 'कुवलयमालाकहा' एवं 'यशस्तिलक' में भी मिलता है।

शंखपुर :— ग्रन्थ में शंखपुर का उल्लेख विष्णुश्री के दृष्टान्त के प्रसंग में आया है। 'समराइच्चकहा' में इस नगर का उल्लेख हुआ है। ऐसी मान्यता है कि अरिष्टनेमि की शंखध्वनि से 'शंखपुर' नगर बसाया था।

'रयणचूडरायचरियं' के नगरों के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकाल ने अधिकतर उत्तर भारत के नगरों का उल्लेख किया है। इनमें से अधिकांश नगरों के उल्लेख मध्ययुगीन जैन-साहित्य में मिलते हैं। इनमें से कुछ ऐसे नगर भी हैं, जो 'रयणचूडराय चरियं' में उल्लेखमात्र हुये हैं। उनका वर्णन इसप्रकार है—

भूतमाला :— यह यशोमति वणिक् की पुत्री कुसुममति के पूर्वभव की कथा के प्रसंग में आया है। मुनि उसके पूर्वभव का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यह उसके कर्मों का ही फल है। इसकी पुत्री ने तीसरे जन्म में 'भूतमाल' नगर में भूतदेव वणिक् की पुत्री थी। एक दिन उसने बिल्ली के दूध पी जाने पर उसने अपनी बहू को कहा "डाकिनी की तरह तुम खड़ी हो और बिल्ली को नहीं देखती हो।"

रतिविलासपुर :— सुवेलगिरि पर्वत के शिखर पर 'रतिविलासपुर' नामक नगर था। इस नगर की आधुनिक पहचान कठिन है। विलासपुर नाम के अवश्य कुछ नगरों का उल्लेख मिलता है। 'समराइच्चकहा' के उल्लेख के अनुसार विलासपुर विद्याधरों का नगर था। रयणचूडरायचरियं में भी इसे 'विद्याधर का नगर' कहा गया है।

वणसाल :— रयणचूड की पत्नी राजहंसी के पूर्वभव की कथा बन्धुधर्मश्रेष्ठी एवं उसकी पत्नी नागश्री के प्रसंग में यह नगर वर्णन में आया है। जिसको भरतक्षेत्र में बताया गया है। यह कथा सौतिया-डाह को बतानेवाली है।

विजयखेड़ा :— यह नगर श्रेमंकर सोनी व सुखंकरा की कथा के प्रसंग में आया है, जो सुखंकरा-कुंडल बनाने के बहाने छुप-छुप कर प्रणय-क्रिया करती है, तथा एक दिन

उसके साथ भाग जाती है। इसमें कहा गया है कि "भूमि, वन एवं आंगन में अनेक प्रकार के धाम, पन्ना और मणिरत्नों से सुशोभित 'विजयखेड़ा' नामक नगर है।"

सुभगा नगरी :— इसी 'जम्बूद्वीप' नामक द्वीप में 'महाविदेह' रमणीक विजय की सीता महानदी के दक्षिण किनारे 'सुभगा' नगरी है। इस नगरी का वर्णन अपराजित एवं अनन्तवीर के पूर्वजन्म अमिततेज एवं श्रीविजय की कथा के प्रसंग में आया है।

सुरतिलक नगर :— सुरतिलक नामक नगर है। इस नगर का नाम मात्र उल्लेख रयणचूड की पत्नी तिलक सुन्दरी के पूर्वभव के क्रम में आया है। जिसमें दृशचेष्टा के परिणाम-कथन का वर्णन है।

सुरसेल नगर :— इस उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि भरतक्षेत्र में 'सुरसेल' नामक नगर था। कुलवर्द्धन सेठ एवं उसकी पत्नी मनोरमा के प्रसंग में आया है।

हेमागर :— यह कुलवर्द्धन सेठ और उसकी पत्नी मनोरमा की कथा के प्रसंग में आया है, जो व्यापार के लिए 'कटाह' (कडाक) द्वीप पहुँचे और वहाँ से हेमागर नगर' गये। केवल नाममात्र का उल्लेख होने के कारण इसकी पहचान कठिन है, फिर भी 'कटाह द्वीप' के आसपास ही कहीं स्थित होना चाहिए। तथा यह नगर एक व्यापारिक-केन्द्र भी था।

शैभंकरा नगरी :— मंदिर से देव-द्रव्य के हड़पने के दुष्परिणामस्वरूप केशवश्रावक की कथा में इस नगरी का नाममात्र उल्लेख है।

उपर्युक्त वर्णित नगरों में जिन नगरों का प्रथम बार उल्लेख हुआ है, उनकी पहचान यदि विद्वान् लोग करें, तो शोधक्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य होगा। डॉ० कैलाश चन्द्र जी जैन, प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विभाग, उज्जैन ने इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, तथा अन्य भूगोल के विद्वानों के द्वारा भी इन नगरों की पहचान कर सकते हैं।

सन्दर्भग्रंथ-सूची

1. डॉ० जैन हुकमचन्द, 'आचार्य नेमिचन्द्रकृत रयणचूडरायचरियं का आलोचनात्मक सम्पादन एवं अध्ययन', अनु० 58, पैरा 2।
2. जिनसेनकृत 'आदिपुराण', 6-206।
3. डॉ० जैन हुकमचंद, 'आचार्य नेमिचन्द्रकृत रयणचूडरायचरियं का आलोचनात्मक सम्पादन एवं अध्ययन', पृ० 282-83।
4. डॉ० जैन गोकुलचन्द, 'यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन', पृ० 282-83।
5. डॉ० यादव शिनकू, 'समराइच्चकहा एक सांस्कृतिक अध्ययन', पृ० 287।
6. डॉ० जैन प्रेमसुमन, 'कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन', पृ० 76।
7. डॉ० डे, 'ज्योग्राफिकल डिक्शनरी', पृ० 138।
8. डॉ० जैन हुकम चन्द, 'आचार्य नेमिचन्द्रसूरिकृत, रयणचूडराय चरियं का आलोचनात्मक सम्पादन एवं अध्ययन', अनु० 45, 47।
9. डॉ० जैन गोकुलचन्द, 'यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन', पृ० 287।
10. डॉ० जैन प्रेमसुमन, 'कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन', पृ० 67।



पुस्तक-समीक्षा

(1)

पुस्तक का नाम	: कातन्त्रोणादिसूत्रवृत्ति:
लेखक	: डॉ० धर्मदत्तचतुर्वेदी
प्रकाशक	: केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ वाराणसी
संस्करण	: प्रथम, 1992 ई०
मूल्य	: 135/- (शास्त्राकार, पेपरबैक, लगभग 400 पृष्ठ)

दिगम्बर-जैनाचार्य शर्ववर्म-विरचित 'कातन्त्र व्याकरण' भारतीय व्याकरणशास्त्र-परम्परा का वह प्रकाशस्तम्भ है, जिसने संस्कृतभाषा के नियमों का तो परिज्ञान कराया ही है, तत्कालीन लोकभाषाओं के नियमों का भी दिग्दर्शन जिसमें प्राप्त होता है।

इसी कातन्त्र-व्याकरण पर आचार्य दुर्गासिंह-विरचित 'कातन्त्र-उणादिसूत्रवृत्ति' नामक इस महनीय कृति का गरिमापूर्ण सम्पादन एवं टीकाकारण का दायित्व डॉ० धर्मदत्त चतुर्वेदी ने अत्यन्त श्रम एवं निष्ठापूर्वक निभाया है तथा 'केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान', सारनाथ (वाराणसी, उ०प्र०) ने इसका उच्चस्तरीय प्रकाशन कराके इसकी महत्ता एवं उपयोगिता को और बढ़ा दिया है। आधुनिक प्रकाशन के उच्चप्रतिमानों के अनुरूप इस प्रकाशन की विद्वज्जगत् में व्यापक उपादेयता रहेगी — ऐसा विश्वास है। विशद संस्कृत प्रस्तावना एवं भूमिका (हिन्दी) में विद्वान् संपादक ने अत्यन्त उपयोगी सूचनाओं का संकलन करते हुए महत्त्वपूर्ण विचार-बिन्दुओं को प्रस्तुत किया है। पादटिप्पणों में आगत सूत्र-उल्लेख विषय के स्पष्टीकरण में अत्यन्त उपयोगी हैं।

इस गरिमापूर्ण प्रकाशन के लिए विद्वान् संपादक एवं प्रकाशन-संस्था अभिनन्दनीय हैं।

—सम्पादक * * *

(2)

पुस्तक का नाम	: जैन न्याय
लेखक	: सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक	: भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003
संस्करण	: द्वितीय, 2001 ई०
मूल्य	: 160 रुपये (पक्की जिल्द, लगभग 385 पृष्ठ)

न्यायशास्त्र को प्रामाणिकता की कसौटी माना जाता है, तथा प्रातिभज्ञान की परख भी न्याय के क्षेत्र में ही दार्शनिक मनीषी परस्पर किया करते हैं। दर्शन के द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों की प्रभावोत्पादकता का निर्णय भी न्यायशास्त्र के अवलम्बन के बिना संभव नहीं होता है। यद्यपि धार्मिक मान्यतायें श्रद्धा पर आधारित होती हैं, फिर भी श्रद्धा जगाने के लिये भी न्यायशास्त्र का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है।

जैनदर्शन में प्राचीन आचार्यों के द्वारा रचित न्यायशास्त्र के अनेकों गंभीर और विशाल-परिमाणवाले ग्रंथ उपलब्ध हैं। किन्तु वे सभी संस्कृतभाषा में ही प्रमुखतः निबद्ध हैं, उनकी व्याख्या एवं अनुवाद आदि विभिन्न विद्वानों ने किये हैं; किन्तु मूलानुगामी होने के कारण उनकी दुरूहता आम जनता के लिये बनी ही रही। प्रारंभिक रूप में जैनन्याय का अध्ययन करनेवाले जिज्ञासुओं के लिये भी उनके विषयों में आसानी से प्रवेश नहीं हो पाता था। तथा 'न्यायदीपिका' जैसे कुछ सरलग्रंथ थे भी, तो वह सर्वांगीण प्ररूपण नहीं करते थे, अतः अनेकों विषय अछूते रह जाते थे। जैनन्याय के जिज्ञासुओं के बीच एक ऐसे ग्रंथ की आवश्यकता गहराई से महसूस की जा रही थी, जो सरल हिन्दीभाषा में जैनन्याय के समग्रतत्त्व को संतुलित शब्दों में प्ररूपित कर सके। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये मनीषी-साधक विद्वद्वरेण्य सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने 'जैनन्याय' नामक कृति की रचना की थी, जिसका प्रकाशन 'भारतीय ज्ञानपीठ' जैसी प्रतिष्ठित संस्था ने कराया था। किन्तु इसकी प्रतियाँ समाप्त हो जाने के बाद दीर्घकाल से इसकी आवश्यकता का अनुभव इस विषय के जिज्ञासु कर रहे थे। अनेकोंबार अनुरोध के बाद भी इसका द्वितीय संस्करण लम्बे समय तक प्रकाशित नहीं हो सका, किन्तु अब इसका द्वितीय संस्करण सुन्दर साज-सज्जा के साथ प्रकाशित हुआ है, जोकि जिज्ञासुओं और विद्वानों के लिये जैनन्याय-विषयक सामग्री को प्रस्तुत कर उन्हें तृप्ति प्रदान कर सकेगा।

इस अति-उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण प्रकाशन के लिये 'भारतीय ज्ञानपीठ' के प्रबंधकगण हार्दिक अभिनन्दन और वर्धापन के पात्र हैं।

—सम्पादक

(3)

पुस्तक का नाम	: जैन सिद्धान्त
लेखक	: सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक	: भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003
संस्करण	: द्वितीय, 2001 ई०
मूल्य	: 80 रुपये (पक्की जिल्द, लगभग 232 पृष्ठ)

जैनदर्शन के सिद्धान्तों का महत्त्व और उनकी गहराई सभी भारतीय एवं पाश्चात्य दार्शनिकों ने मुक्तकंठ से स्वीकार की है। किन्तु इसके प्ररूपक-ग्रंथ संस्कृत और प्राकृतभाषाओं में निबद्ध होने के कारण सामान्य-लोगों के लिये उपयोगी नहीं हो पाते थे। अतः एक लम्बे

समय से जिज्ञासुओं की यह माँग थी कि जैन-सिद्धान्त के विषय में साररूप में प्ररूपण करनेवाले किसी छोटे संस्करण का निर्माण किया जाये। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये भी स्वनामधन्य मनीषी सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने पर्याप्त श्रमपूर्वक इस कृति का निर्माण किया था, और भारतीय ज्ञानपीठ ने इसका प्रथम प्रकाशन कराया था।

किन्तु इसका प्रथम संस्करण समाप्त हो जाने के बाद लम्बे समय से इसकी आवश्यकता का अनुभव इस विषय के जिज्ञासु कर रहे थे। दीर्घ अंतराल के बाद अब इसका द्वितीय संस्करण सुन्दर सांज-सज्जा के साथ प्रकाशित हुआ है, जोकि जिज्ञासुओं और विद्वानों के लिये जैनसिद्धान्त-विषयक सामग्री को प्रस्तुत कर उन्हें संतुष्टि प्रदान कर सकेगा।

इस अति-उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण कृति के द्वितीय संस्करण के प्रकाशन के लिये भारतीय ज्ञानपीठ के प्रबंधकगण हार्दिक अभिनन्दन और वर्धापन के पात्र हैं। —सम्पादक

(4)

पुस्तक का नाम	: न्यायविनिश्चयविवरण (प्रथम एवं द्वितीय भाग)
लेखक	: वादिराजसूरि विरचित
सम्पादन	: प्रो० महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य
प्रकाशक	: भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003
संस्करण	: द्वितीय, 2000 ई०
मूल्य	: 200/- प्रति खण्ड, (पक्की जिल्द, लगभग 611+525 पृष्ठ)

भारतीय न्यायशास्त्र के क्षेत्र में जैन आचार्यों एवं मनीषियों का योगदान अन्यतम रहा है। तथा विश्वभर के साधक मनीषियों ने इस तथ्य को मुक्तकंठ से स्वीकार किया है। इनमें भी आचार्य समन्तभद्र, आचार्य अकलंकदेव, आचार्य विद्यानन्दि, आचार्य प्रभाचन्द्र एवं आचार्य वादिराजसूरि की कृतियाँ विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

आचार्य वादिराजसूरि-विरचित 'न्यायविनिश्चयविवरण' मूलतः आचार्य भट्टाकलंकदेव द्वारा प्रणीत 'न्यायविनिश्चय' नामक ग्रंथ का व्याख्यापरक ग्रंथ है। यह ग्रंथ मूलतः विलुप्त हो गया था, मात्र इसकी यह टीका ही मिलती थी। मूलग्रंथ के अभाव में टीका के सम्पादन और प्रकाशन का कार्य भी कोई हाथ में नहीं ले रहा था। यद्यपि यह टीका-ग्रंथ अत्यंत महत्त्वपूर्ण था, फिर भी मूलग्रंथ न मिलने से इसके सम्पादन-प्रकाशन का साहस कोई विद्वान् नहीं कर पाया। लम्बे अंतराल के बाद जैन-मनीषा के क्षेत्र एक ऐसे जाज्वल्यमान नक्षत्र का उदय हुआ, जो अपनी नैसर्गिक-प्रतिभा के आधार पर अल्पायु में ही ऐसे चमत्कार कर गया; कि अन्य सब मनीषी उनके कार्यों को देखकर दाँतों तले अंगुली दबाकर रह गये। वे विशिष्ट मनीषी थे— डॉ० महेन्द्र कुमार जी न्यायाचार्य।

अपार कष्टों और विपन्नताओं को सहकर डॉ० महेन्द्र कुमार जी ने ज्ञानार्जन के उपरांत अपनी न्यायाचार्य की उपाधि को उस समय महिमामण्डित कर दिया, जब उन्होंने

‘न्यायविनिश्चयविवरण’ नामक कृति के आधार पर अकलंकदेवप्रणीत मूलग्रंथ ‘न्यायविनिश्चय’ का स्वरूप-निर्माण कर दिया। और टीका-ग्रंथ का भी अत्यंत वैज्ञानिक रीति से सम्पादन किया। जैनदर्शन और न्याय के क्षेत्र में विद्वद्वर्य डॉ० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य ने अपनी सारस्वत लेखनी से जो योगदान किये, जैनसमाज और मनीषी-जगत् को उनकी कृतज्ञता ज्ञापित करने का भी अवसर नहीं मिला।

यद्यपि ‘न्यायविनिश्चयविवरण’ नामक इस कृति का किसी भाषांतर में अनुवाद इस संस्करण में नहीं था, फिर भी विद्वानों के बीच इसकी चर्चा और अपार-जिज्ञासा को देखकर ‘भारतीय ज्ञानपीठ’ के न्यासियों ने इसके प्रकाशन का निर्णय लिया; और गरिमापूर्वक इसे प्रकाशित कराया। प्रकाशन के बाद इसकी प्रतियाँ शीघ्र ही समाप्त हो गईं, क्योंकि विद्वानों के मध्य इस ग्रंथ की बहुत ज्यादा माँग थी। अनुवाद नहीं होने के कारण सामान्य-जिज्ञासुओं के बीच यह ग्रंथ अधिक समादृत नहीं हो सका। फिर भी परवर्ती जिज्ञासु-मनीषियों ने ‘भारतीय ज्ञानपीठ’ के प्रबंधकों से यह माँग की हुई थी, कि बिना अनुवाद के ही सही, इसका द्वितीय संस्करण यथावत् प्रकाशित कराया जाये; ताकि विद्वान् तो अपनी जिज्ञासा की पूर्ति कर सकें। और अनुसंधानपरक कार्यों के लिये यह ग्रंथ उपलब्ध हो सके।

यह सौभाग्य की बात है कि भारतीय ज्ञानपीठ के न्यासियों ने विद्वानों की इस बात को आदर देते हुये इसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित कराया है। यह संस्करण प्रत्येक जैन एवं जैनेतर जिज्ञासु, विद्वान् एवं साधु-संत को अवश्य पठनीय, मननीय एवं प्रभावनीय है।

—सम्पादक

(5)

पुस्तक का नाम	: महापुराण (भाग 1-5)
लेखक	: महाकवि पुष्पदन्त
मूल-सम्पादन	: डॉ० पी०एल० वैद्य
हिन्दी-अनुवाद	: (स्व०) डॉ० देवेन्द्र कुमार जैन, इन्दौर (म०प्र०)
प्रकाशक	: भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003
संस्करण	: द्वितीय, 2001 ई०
पृष्ठ-संख्या	: पक्की जिल्द, लगभग 546+491+568+298+456 पृष्ठ
मूल्य	: 200+200+200+120+120=840 रुपये

प्रत्येक दर्शन में अपने महापुरुषों के चरित्र-चित्रण के लिये पौराणिक-साहित्य की रचना हुई है। परन्तु जैनदर्शन के अतिरिक्त प्रायः अन्य सभी दर्शनों के पौराणिक-ग्रंथ संस्कृतभाषा में ही निबद्ध प्राप्त होते हैं। जैनपरम्परा के पुराण-ग्रंथ संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत एवं अपभ्रंश-भाषाओं में भी मिलते हैं, और साथ ही अनेकों दक्षिण-भारतीय-भाषाओं में भी जैनपुराण-ग्रंथ समय-समय पर लिखे गये हैं। इस प्रक्रिया से जहाँ जैन-परम्परा के

प्रभावक-महापुरुषों का जीवन-चरित्र सभी के लिये सुलभ हो सका, वहीं इन विभिन्न-भाषाओं का साहित्य भी इन पुराण-ग्रंथों के द्वारा समृद्ध हुआ है। इतिहास, संस्कृति, दर्शन, तत्त्वज्ञान एवं विविध लोककलाओं, विद्याओं, ज्ञान-विज्ञान की सामग्री से समृद्ध इन पुराणों के द्वारा सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय ने अपनी समृद्धि के नये आयाम विकसित किये हैं। इस दृष्टि से ये पुराण सम्पूर्ण भारतीय साहित्य और संस्कृति के गौरव-ग्रंथ हैं।

अपभ्रंशभाषा और इसका साहित्य प्राचीन एवं अर्वाचीन-भाषाओं और साहित्य के बीच एक ऐसा सेतु है, जिसका अवलम्बन किये बिना कोई भी मनीषी प्राचीन और अर्वाचीन-भाषाओं और साहित्य के बारे में एकरूपता और समानता के तत्त्वों को नहीं खोज सकता है। अतः इस दृष्टि से अपभ्रंशभाषा का साहित्य एक अमूल्य-निधि के रूप में जाना जाता है। अपभ्रंशभाषा के साहित्यकारों में महाकवि पुष्पदंत का अन्यतम स्थान है, और उनके द्वारा रचित अनेक ग्रंथों में 'महापुराण' नामक यह कृति गुणों में तो महान् है ही, आकार-प्रकार की दृष्टि से भी अति-विशाल है।

इस कृति का वैज्ञानिक-सम्पादन स्वनामधन्य भाषाविद् डॉ० पी०एल० वैद्य ने व्यापक अनुसंधान एवं समर्पणपूर्वक किया था। जिसका संतुलित हिन्दी-अनुवाद अपभ्रंशभाषा के मनीषी डॉ० देवेन्द्र कुमार जैन, इंदौरवालों ने करके इसे भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित कराया था।

भाषा एवं साहित्य के साथ-साथ दर्शन, संस्कृति, इतिहास एवं पुराण आदि के क्षेत्र में रुचि रखनेवाले जिज्ञासुओं के मध्य लम्बे समय से इस ग्रंथ के द्वितीय संस्करण की आवश्यकता का अनुभव हो रहा था। चूँकि यह ग्रंथ शास्त्राकार पाँच विशाल खण्डों में था, अतः शीघ्रता से इसका पुनः प्रकाशन संभव नहीं हो सका। विलम्ब से ही सही, इसका द्वितीय संस्करण भारतीय ज्ञानपीठ ने प्रकाशित कराया है, जो जिज्ञासुओं एवं विद्वानों के मध्य हाथोंहाथ ले लेने योग्य है। जैन धार्मिक श्रावकों-श्राविकाओं यतियों एवं आर्यिकाओं के लिये भी यह ग्रंथ अवश्य पठनीय है। आशा है वे सभी इसका लाभ निश्चितरूप से लेंगे।

इस अति-उपयोगी प्रकाशन के लिये 'भारतीय ज्ञानपीठ' हार्दिक अभिनन्दन एवं वर्धापन की पात्र है।

—सम्पादक

आगम में धर्मध्यान के स्वामी

किं च कैश्चिच्च धर्मस्य चत्वारः स्वामिनः स्मृताः ।

सद्दृष्टयाद्यप्रमत्तात्ता वथायोगेव हेतुवा ॥'

—(आचार्य कुन्दकुन्द, ज्ञानार्णव 26/28)

अर्थ :— असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्त इन चार गुणस्थानवर्ती जीवों को उस धर्मध्यान के स्वामी माना है।

●●

अभिमत

● प्राकृतविद्या, जुलाई-सितम्बर 2001 का अंक प्राप्त कर हर्ष हुआ। इसमें अध्ययन-हेतु महत्त्वपूर्ण शोध-सामग्री प्राप्त हुई, इसमें आपके शोधपूर्ण लेखों का अध्ययन कर विशेष आनन्द की अनुभूति हुई और कुछ नवीन विषयों का भी ज्ञान प्राप्त हुआ। पत्रिका का सम्पादन सुयोग्य-रीति से हो रहा है। मंगलकामनाओं के साथ।

—डॉ० दयाचन्द्र साहित्याचार्य, सागर (म०प्र०) **

● Prakrit Vidya is a standard journal. Each and every issue is worth preserving. This issue carrying the Chandragupta Maurya's picture, a reproduction of postal stamp, is remarkable. Your editorial has recorded the importance of this picture. Added to this, you have also written an article on Jainism that existed in South India before the advent of Chandragupta – a very useful and historically significant writing. I appreciate your approach. With well wishes.

—Prof. Hampa Nagarajiah, Bangalore (Kar.) **

● प्राकृतविद्या, जुलाई-सितम्बर 2001 का अंक मेरे सामने है। मुख-पृष्ठ पर सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य का डाक-टिकट अत्यन्त आकर्षक रहा। 'समयपाहुड बदलने का दुःसाहस पूर्ण उपक्रम' उपक्रम से डॉ० देवेन्द्र कुमार जी शास्त्री का लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। 'वीर सेवा मन्दिर' से प्रकाशित 'समयपाहुड' में आचार्य कुन्दकुन्द एवं उनके टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्रदेव के प्रति तिरस्कार-प्रदर्शन की वृत्ति का जो दो-टूक उत्तर दिया है, वह भ्रम-दृष्टि मिटाने में सदैव निमित्त रहेगा। 'प्राकृत-ग्रंथों में जिन-साधुओं का निवास और विहारचर्या का स्वरूप' शीर्षक से डॉ० राजेन्द्र कुमार बंसल का लेख अत्यन्त सामयिक है। श्रावकों के लिये मार्गदर्शक है।

डॉ० सुदीप जैन का 'दक्षिण भारत में सम्राट् चन्द्रगुप्त से पूर्व भी जैनधर्म का प्रचार-प्रसार था' शीर्षक लेख इतिहास-मंथन द्वारा जैनधर्म के गौरवमय-अतीत का प्रकाशन अत्यन्त सार्थक है। प्रस्तुत अंक जैन-साहित्य की उत्तम धरोहर तो बनी ही है, साथ ही भाषाविदों के लिये भी संग्रहणीय है। ऐसे उत्तम सम्पादन हेतु साधुवाद।

—प्रकाशचन्द्र जैन ज्योतिर्विद, मैनपुरी (म०प्र०) **

❶ I was happy to receive the July-September issue of your esteemed journal "Prakṛta Vidya". As usual, it was excellently produced. Especially valuable in this issue are the articles by Baladeva Upadhyaya, Hazari Divedi and Vasudev Sharan Agrawala. One rarely finds today such comprehensive vision of Indian culture as presented by these departed savants.

—S.R. Sharma, Aligarh (U.P.) ❀❀

❷ 'प्राकृतविद्या' का सदा की भाँति सजा-संवरा जुलाई-सितम्बर 2001 के अंक का स्वाध्याय करने का अवसर मिला। अंक को एक ही बैठक में पूरा पढ़ गया। यह पत्रिका की आकर्षकता ही दर्शाती है। कवर-पृष्ठ पर चन्द्रगुप्त मौर्य का डाक टिकट एवं पीछे परिचय पढ़कर सुखानुभूति हुई।

'अहिंसा के अवतार-पंचपरमेष्ठी' डॉ० सुदीप जी जैन का सम्पादकीय मन को बहुत भाया। 'समयपाहुड बदने का दुःसाहसपूर्ण उपक्रम' भी पूरा पढ़कर ही छोड़ा तथा सोचने पर मज़बूर हो गया। 'ब्राह्मी लिपि और जैन-परम्परा' आलेख रोचक, ज्ञानवर्द्धक पठनीय, प्रेरणादायी है। 'रावण नहीं फूँका जायेगा अब दशहरे पर' श्री सुरेश सिन्हा का आलेख अलख जगता है कि पहले अपने अन्दर की रावणीय बुरी-भावनाओं को जलाओ। आज सभी रावण होते जा रहे हैं, फिर उन्हें क्या अधिकार है रावण के पुतले दहन का? पहले राम बनकर तो दिखाओ, आज राम की वेश-भूषा बनाकर रावणीय-काम हो रहे हैं। राम-भक्तों को जरा अपना हृदय टटोलना होगा। 'खण्डहरों का वैभव' व डॉ० रमेशचंद्र जी अपने पुराने स्तंभों के संरक्षण, संवर्धन की प्रेरणा देता है।

प्राकृतविद्या ने प्राकृतभाषा के उत्थान में जो अहम् भूमिका निभायी है वह अभिनंदनीय, स्तुत्य है। पत्रिका में प्रकाशित शोधपरक लेख काफी कुछ दबी व अनसुलझी बातों के निराकरण में अपनी स्तुत्य छाप छोड़ते हैं।

—सुनील जैन 'संचय' शास्त्री, सागर (म०प्र०) ❀❀

❸ 'प्राकृतभाषा' की सेवा में तथा शोध में 'कुन्दकुन्द भारती' तथा 'प्राकृतविद्या' का विशेष योगदान है। 'प्राकृतविद्या' जुलाई-सितम्बर 2001 के अंक में आपका महत्त्वपूर्ण लेख 'दक्षिण भारत.....प्रचार-प्रसार था; प्रकाशित हुआ है। पृष्ठ 25 पर आपने सम्राट् नेवुपादनेजार को दक्षिण भारत का सम्राट् लिखा है। वस्तुतः नेबू कदनेजार बेबिलोनिया का शासक था। वह बेबिलोनिया के संस्थापक-सम्राट् नेबू पलासर का पुत्र था। ई०पू० 605 में वह सम्राट् बना। उसी ने विश्व में अद्भुत माने जाने वाले प्राचीन आश्चर्यों में से एक 'हैगिंग गार्डेन्स' का निर्माण करवाया था। इसी सम्राट् का एक ताम्रपत्र प्रभास-पट्टन (भारत) में प्राप्त हुआ। डॉ० प्राणनाथ विद्यालंकार ने इसका अनुवाद किया। जिसके अनुसार, "इस राजा द्वारा सौराष्ट्र के गिरनार पर्वत पर स्थित नेमि-मन्दिर के जीर्णोद्धार का उल्लेख है।"

इस राजा ने नाविकों से प्राप्त देश की आय को जूनागढ़ के गिरिनार पर्वत पर स्थित अरिष्टनेमि की पूजा के लिये प्रदान किया था। आशा है उपरोक्त तथ्य का संज्ञान लेंगे।

दूसरी बात यह कहनी है कि 30प्र0 शिक्षा परिषद् के विषयों में शास्त्रीय भाषाओं के अन्तर्गत 'प्राकृत' का नाम नहीं है, अतः उसको सम्मिलित कराने का प्रयास किया जाये। उसके लिये हाईस्कूल तथा इण्टरमीडियेट स्तर के लिये पाठ्यक्रम बना कर भेजने का प्रयास करें।

—आदित्य जैन, लखनऊ (30प्र0) * * *

● प्राकृतविद्या का जुलाई-सितम्बर अंक मिला। पत्रिका उपयोगी होने के साथ सुंदर भी है। कुछ कहना चाहता हूँ, वैसे तो जैनधर्म से सम्बन्धित डाक-टिकिट जारी ही कम होते हैं; और जो होते हैं उनमें सूचना पत्रिका में जानकारी अधूरी रहती है। दूसरे, सम्बन्धित स्थानों पर विशेष मुहर की, पहले दिन व्यवस्था नहीं हो पाती है। कुन्दकुन्द भारती का केन्द्रिय कार्यालय दिल्ली में होने से यह सभी व्यवस्था सुचारु-रूप से हो सकती है।

भगवान् महावीर से सम्बन्धित अभी डाक-टिकिट जारी हुआ था। जन्मस्थान पर टिकिट जारी होने के दिन जन्मस्थान पर विशेष मुहर की व्यवस्था होनी चाहिये थी। सूचना-पत्रिका में भी सही जानकारी आनी चाहिये थी। ये प्रथम-दिवस आवरण और सूचना-पत्रिका विदेशों में भी जाती है और पूरे विश्व को पता चलना चाहिये जन्मस्थली आदि और सम्पूर्ण-विवरण के बारे में। और फिर कुन्दकुन्द भारती की ओर से विशेष-व्यवस्था होनी चाहिये। विशेष-आवरण जारी करने की, विशेष सम्पूर्ण जानकारी के साथ पुस्तिका जारी होने की श्री अरविंदो आश्रम की ओर से व्यवस्था होती है। संस्थाओं से संबंधित जब भी डाक-टिकिट जारी होते हैं, व्यवस्था होती है। और जो व्यक्ति इसप्रकार के कवर, चित्र, सूचना-पत्रिका चाहे व उपलब्ध भी होती है। चन्द्रगुप्त मौर्य को कितनों ने जाना कि ये जैन थे, जैन-मुनि हुए और श्रवणबेलगोल में समाधिमरण किया। श्रवणबेलगोल में चन्द्रगुप्त पहाड़ी पर विशेष-मुहर की व्यवस्था होनी चाहिये थी।

—साहू शैलेन्द्र कुमार जैन, खुर्जा (30प्र0) * * *

कुलपति का स्वरूप

मुनीनां दशसाहस्रं, योऽन्नदानादिपोषणात् ।

अध्यापयति विप्रर्षिरसौ कुलपतिः स्मृतः ॥

अर्थ :— जो दस हजार मुनियों को अन्नदानादि से पोषित करता हुआ उन्हें शिक्षित करता है, उसे भारतीय परम्परा में 'कुलपति' माना गया है। ●●

परचिन्ताऽधमाऽधमा

जो दूसरों को अपने धर्म में दीक्षित तथा दूसरों की आत्माओं का उद्धार करते फिरते हैं, वे प्रायः अपनी आत्मा को भूल जाते हैं। —(स्वामी विवेकानन्द) ●●

समाचार दर्शज

पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी द्वारा मयूर विहार दिल्ली में भारी धर्म-प्रभावना

परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज ने कहा "माला जपना, स्वाध्याय करना, पूजा करना, इन सभी क्रियाओं का ध्येय आत्मा को पवित्र कर मुक्ति प्राप्त करना है। इन क्रियाओं के पीछे यदि सांसारिक लालसायें हैं, तो धर्म संकीर्ण व संकुचित हो जाता है। मनुष्य के जीवन में सब वैभव पर धर्म व शान्ति न हो, तो वह जीवन शुष्क है; निष्प्रयोजन है, वह पशुवत् है। कोई भी तत्त्वचर्चा, धर्मध्यान की विधि बताने में सहायक हो सकती है, पर एकाग्र स्वयं को ही होना होगा। स्वयं के कर्म स्वयं को ही तप, साधना एवं एकाग्रता द्वारा नष्ट करने होंगे। परमात्मा किसी के कर्मों को नष्ट नहीं कर सकता।

आत्मशान्ति के लिए धर्म ही एक मार्ग है, साधन है, उपकरण है। जैसे पानी से प्यास बुझती है, वैसे ही आत्म-चिन्तन से आत्मा को शान्ति प्राप्त होती है। भौतिक पदार्थ शांतिदायक नहीं हैं। धर्म का यथार्थस्वरूप मनुष्य को मनुष्य से जोड़ता है। जब धर्म में विकृतियाँ आ जाती हैं, तो वह तोड़ता है। वीतराग-धर्म ही सच्चा-धर्म है। इसको जीवन में उतारनेवाला ही धर्मात्मा है।"

पूज्य आचार्यश्री ने आगे कहा "त्याग में ही शान्ति है। जो त्यागता है, उसी की पूजा होती है। संग्रह से परिग्रह बढ़ता है, और परिग्रह दुःख का कारण है। आदिनाथ से महावीर तक सभी तीर्थकरों की पूजा त्याग से ही हुई है। बाहुबली ने भरत चक्रवर्ती को जीता और उसको राज्य लौटा दिया। राम ने रावण को जीता और उसको लौटा दिया। भारतीय संस्कृति और परम्परा ही त्यागमय है। गाँधीजी त्यागते गए और महात्मा बन गए।"

उपरोक्त विचार पूज्य आचार्यश्री ने मयूर विहार फेस-1 दिल्ली में तीन-दिवसीय प्रवास के मध्य चार धर्मसभाओं को सम्बोधित करते हुए व्यक्त किये। दो मंगल प्रवचन श्री ऋषभदेव दिगम्बर जैन मन्दिर, एक वर्धमान अपार्टमेन्ट और एक मनु अपार्टमेन्ट में आयोजित किये गये। धर्मसभा में क्षेत्रीय विधायक श्री ब्रह्मपाल, श्री सतीश जैन निगम पार्षद, कर्नाटक के विद्वान् डॉ० सट्टर, पं० जयकुमार उपाध्ये, डॉ० वीरसागर जैन आदि ने आचार्यश्री को विनयांजलि अर्पित की। अतिथियों को महामंत्री ने स्मृति-चिह्न भेंटकर सम्मानित किया। श्री सतीश जैन (आकाशवाणी) एवं श्री प्रताप जैन ने धर्मसभाओं का संचालन किया।

—गजेन्द्र कुमार जैन, दिल्ली ❀❀

‘अहिंसा-स्थल’ में महामस्तकाभिषेक-समारोह सम्पन्न

धर्मप्राण देश भारतवर्ष की राजधानी नई दिल्ली के सुप्रसिद्ध धार्मिक केन्द्र ‘अहिंसा-स्थल’ के सुरम्य परिसर में लघु पर्वत-शिखर पर विराजमान जैनधर्म के चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर की 13 फुट उत्तुंग पदमासन-प्रतिमा का द्वादशवर्षीय महामस्तकाभिषेक-महोत्सव भव्य-समारोह-पूर्वक दिनांक 18 नवम्बर 2001, दिन रविवार को सानन्द सम्पन्न हुआ।

परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज के पावन सान्निध्य में आयोजित इस समारोह में पूज्य उपाध्याय श्री श्रुतसागर जी, मुनिश्री निर्णयसागर जी, मुनिश्री ऊर्जयन्तसागर जी, भट्टारक श्री चारुकीर्ति जी (मूडबिद्री) आदि व्यक्तित्वों की उपस्थिति से विशेष गरिमा बढ़ी।

सन् 1989 में प्रतिष्ठापित इस प्रतिमा का यह ‘प्रथम महामस्तकाभिषेक महोत्सव’ था। धर्मप्राण लाला प्रेमचंद जी जैन, जैना वॉच कं० ने उत्तर-भारत की इस गौरवशाली प्रतिमा का निर्माण कराके मूर्धन्य विद्वान् पं० नाथूलाल जी शास्त्री इन्दौरवालों से इसकी प्रतिष्ठाविधि करायी थी। इस आध्यात्मिक वातावरण में केसरिया वस्त्रों एवं मुकुट-हार आदि से सुसज्जित इन्द्र-इन्द्राणियों को देखकर ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानो साक्षात् स्वर्ग ही धरती पर उतर आया हो। भक्तिरस से ओतप्रोत इस भव्य आयोजन में प्रातः 6.00 बजे से दोपहर 1.00 बजे तक समागत दस हजार से अधिक धर्मश्रद्धालुजनों ने लगातार मस्तकाभिषेक का मनोहारी दृश्य देखा तथा पूज्य सन्तों एवं विद्वानों के मंगल-प्रवचनों का लाभ लिया।

इस सुअवसर पर पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज ने जैनधर्म एवं संस्कृति का विशद परिचय देते हुये धर्मप्रभावना के कार्यों का महत्त्व प्रभावी रीति से प्रतिपादित किया तथा तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी का जीवनवृत्त भी मर्मस्पर्शी शब्दों में समझाया। सभा को पूज्य उपाध्याय श्री श्रुतसागर जी एवं मुनिश्री निर्णय सागर जी ने भी सम्बोधित किया। समागत विशिष्ट विद्वानों में पं० प्रकाश हितैषी शास्त्री, दिल्ली; डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर; डॉ० सुदीप जैन, दिल्ली एवं डॉ० वीरसागर जैन आदि ने अपने व्याख्यानो द्वारा जैनतत्त्वज्ञान एवं प्रसंगानुकूल विषयों का सरल शब्दों में ज्ञान प्रदान किया। सभा में भक्तिरस प्रवाहित करनेवालों में सर्वश्री हरिचरण वर्मा, श्रीमती अनीता जैन, श्रीमती शालिनी जैन, श्रीमती सुनीता गोधा एवं श्रीमती रंजना जैन का भी सराहनीय योगदान रहा।

इस समारोह के संयोजन में श्री सतीश चन्द जैन (आकाशवाणी) ने महीनों अथक श्रम किया तथा अहिंसा स्थल के न्यासीगणों ने भी समर्पितभाव से कार्य किया।

समारोह में आगत विशिष्टजनों में सर्वश्री साहू रमेशचन्द्र जी जैन, श्री चक्रेश जैन (बिजलीवाले), श्री त्रिलोकचंद कोठारी, श्री डालचंद जी जैन (पूर्व सांसद), श्री सतीश चन्द जैन (SCJ), श्री निर्मल कुमार सेठी, श्रीमती सरयू दफ्तर, मुम्बई; श्रीमती सरिता जैन, चेन्नई; श्री शीलचन्द जी जौहरी, श्री कैलाशचन्द जी जैनावॉच कं०, श्री ताराचन्द्र जी प्रेमी, श्री स्वदेश भूषण जैन आदि प्रमुख थे। सभा का संचालन डॉ० सुदीप जैन ने किया।

महामस्तकाभिषेक की विधि प्रो० टीकमचंद जैन, दिल्ली एवं श्री राजेन्द्र उपाध्ये कुंदकुंद भारती द्वारा सम्पन्न करायी गयी। इसमें 1008 कलशों से भगवान् महावीर की इस

भव्य-प्रतिमा का अनवरत-जलाभिषेक मंत्रोच्चार के मध्य शास्त्रोक्त-रीति से सम्पन्न हुआ।

समारोह के अन्त में प्रो० टीकमचंद जैन एवं श्री देवसैन जैन, (जैन टेंट हाउस) का भी सम्मान आयोजकों की ओर से किया गया।

इस समारोह में जहाँ मंच सज्जा एवं अभिषेक व्यवस्था आदि अत्यन्त उच्चस्तर की थी, वहीं वीर सेवा दल, जयपुर ने भी व्यवस्था बनाने में सराहनीय योगदान दिया।

यह आयोजन भगवान् महावीर के 2600वें जन्मकल्याणक-वर्ष के वर्षव्यापी कार्यक्रमों के अन्तर्गत दिल्ली राज्य की दिगम्बर जैन समिति एवं अहिंसा स्थल न्यास के द्वारा गरिमापूर्वक आयोजित किया गया। भगवान् महावीर के विश्वहितकारी संदेशों के प्रचार-प्रसार में इस आयोजन का महनीय योगदान रहा तथा इसमें जैनसमाज के कार्यक्रमों का एक आदर्श स्वरूप धर्मश्रद्धालुजनों ने देखा।

—सतीश चंद जैन (आंकाशवाणी) ❀❀

‘अहिंसा शिखर सम्मेलन’ सम्पन्न

9.12.2001 को भारतीय जैनमिलन द्वारा आयोजित सीरी फोर्ट सभागार, नई दिल्ली में ‘अहिंसा शिखर सम्मेलन’ प्रमुख जैन सन्तों/आचार्यों के सान्निध्य में भारतीय जैनमिलन द्वारा विशाल स्तर पर खेलगाँव, नई दिल्ली स्थित सीरी फोर्ट सभागार में भव्यता के साथ सम्पन्न हुआ। जिसमें परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज, आचार्य शिवमुनि जी, उपाध्याय गुप्तिसागर जी, प्रो० महेन्द्र मुनि जी, श्री अमर मुनि जी आदि अनेक संत विराजमान रहे।

सम्मेलन की शुरुआत करे हुए आचार्य विद्यानन्द मुनिराज जी ने कहा कि “विश्व में शांति करने के लिए जरूरी है कि हम हिंसा का मार्ग छोड़कर अहिंसा के मार्ग पर चलें।” केन्द्र सरकार से अपील करते हुए उन्होंने कहा कि “सरकार को सीमा और विश्व में बढ़ रहे आतंकवाद में निर्दोष प्राणियों की हिंसा रोकने के लिये जरूरी कदम उठाने चाहिये, क्योंकि प्रत्येक प्राणी को जीने के लिये शांति का वातावरण बनाने और उसकी सुरक्षा की जिम्मेदारी केन्द्र सरकार की है।” आचार्यश्री ने कहा कि आत्मा समताभावी है, जहाँ समता है, वहीं अहिंसा है। सारे धर्मों का सार अहिंसा है। हम सभी को अहिंसा का पालन करना चाहिये।”

इस मौके पर आचार्य श्री शिवमुनि जी ने कहा कि आज की हालत में भगवान् महावीर के सिद्धान्त ‘अहिंसा परमोधर्म’ का पालन करना हमारे लिये बेहद जरूरी है। अहिंसा के रास्ते पर चलकर प्रत्येक व्यक्ति शान्ति प्राप्त कर सकता है। सम्मेलन में उपाध्याय गुप्तिसागर जी, प्रो० महेन्द्र मुनि जी और अमर मुनि जी ने भी अपने उद्गार व्यक्त किये।

जैन-विद्वान् डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल जयपुर, श्री राजाराम जैन आरा, डॉ० प्रेमसुमन जैन उदयपुर, डॉ० सुदीप जैन, राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली के कुलपति प्रो० वाचस्पति उपाध्याय, भूतपूर्व सांसद सुश्री निर्मला देशपांडे तथा जैनसमाज के गणमान्य व्यक्ति जिनमें टाइम्स ऑफ इन्डिया की अध्यक्ष श्रीमती इन्दु जैन, श्री जे०डी० जैन, साहू रमेशचन्द जैन, श्री निर्मल कुमार सेठी भी इस अवसर पर उपस्थित रहे। इस अवसर पर उत्तरप्रदेश, राजस्थान, हरियाणा, मध्यप्रदेश, पंजाब के विभिन्न भागों से आये लोग

भारी-संख्या में मौजूद थे। मंच का संचालन भारतीय जैन मिलन के महामंत्री सुरेश जैन रितुराज ने किया।
—वीर जयचन्द जैन * *

‘अहिंसा-इंटरनेशनल’ के वार्षिक-पुरस्कार समर्पित

राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय-स्तर पर सुपरिचित समाजसेवी संस्था अहिंसा-इंटरनेशनल ने अपनी स्थापना के अट्ठाईसवें वर्ष में अपनी सक्रिय गतिविधियों को निरन्तर चालू रखा है, तथा विभिन्न क्षेत्रों में काम करनेवाले मनीषियों और समाजसेवियों को सम्मानित कर समाज और राष्ट्र के क्षेत्र में प्रतिभाओं को प्रोत्साहित करने के रूप में अनन्य योगदान दिया है।

वर्ष 2000 के लिये इस संस्थान के द्वारा प्रदत्त पाँच पुरस्कारों का समर्पण दिनांक 4 नवम्बर 2001, रविवार, को राजधानी के ‘चिन्मय मिशन सभागार’ में भव्य समारोहपूर्वक किया गया। ये पुरस्कार अहिंसा, शाकाहार, जीव-दया, पत्रकारिता एवं साहित्य-सेवा आदि क्षेत्रों में उल्लेखनीय कार्य करनेवाले निम्नलिखित विशिष्ट व्यक्तियों को प्रदान किये गये—

1. अहिंसा-इंटरनेशनल डिप्टीमल आदिश्वरलाल जैन साहित्य पुरस्कार (31,000 रुपये)
पुरस्कार-प्राप्तकर्ता — डॉ० भागचन्द्र जैन ‘भागेन्दु’, दमोह (म०प्र०)
2. अहिंसा-इंटरनेशनल भगवानदास शोभालाल जैन शाकाहार पुरस्कार (21,000 रुपये)
पुरस्कार-प्राप्तकर्ता — मेजर कमल कुमार जैन, बीना (म०प्र०)
3. अहिंसा-इंटरनेशनल रघुवीर सिंह जैन जीवरक्षा पुरस्कार (21,000 रुपये)
पुरस्कार-प्राप्तकर्ता — श्री ओमप्रकाश गुप्ता, अलवर (राज०)
4. अहिंसा-इंटरनेशनल प्रेमचन्द जैन पत्रकारिता पुरस्कार (21,000 रुपये)
पुरस्कार-प्राप्तकर्ता — डॉ० सुदीप जैन, नई दिल्ली
5. अहिंसा-इंटरनेशनल ओमप्रकाश जैन अहिंसा-प्रसार पुरस्कार (21,000 रुपये)
पुरस्कार-प्राप्तकर्ता — श्री विलास शिवलाल शहा, माढ़ा (महा०)

इस समारोह में सम्मानित व्यक्तियों को तिलक एवं माल्यार्पणपूर्वक सम्मानराशि के साथ-साथ प्रशस्ति-पत्र, शॉल आदि सामग्री पुरस्कार-प्रदाताओं एवं सभाध्यक्ष जस्टिस आर० सी० जैन (न्यायाधीश, दिल्ली उच्चन्यायालय) के द्वारा बहुमान-सहित समर्पित किये गये। समारोह का संचालन श्री प्रताप जैन ने किया, तथा सम्पूर्ण समारोह के सूत्रधार संस्था के प्राण श्री सतीशचन्द जैन थे। अहिंसा-इंटरनेशनल के सभी पदाधिकारियों एवं सदस्यों ने कार्यक्रम में सक्रिय-योगदान दिया, तथा कार्यक्रम के अन्त में जैन हैप्पी स्कूल, दिल्ली के छात्र-छात्राओं ने भव्य सांस्कृतिक-कार्यक्रम प्रस्तुत किया। इस कार्यक्रम में देश एवं राजधानी दिल्ली के कोने-कोने से पधारे छह सौ से अधिक गणमान्य व्यक्तियों ने अपनी गरिमापूर्ण उपस्थिति से इसे सफलता प्रदान की।

ज्ञातव्य है कि ‘अहिंसा-इंटरनेशनल’ की ओर से ये पुरस्कार प्रतिवर्ष इसी भाँति समर्पित किये जाते हैं।
—प्रदीप जैन * *

श्री भगवान् महावीर का 162 वर्ष पुराना सिक्का

तमिल मासिक 'मुक्कुडै' (अक्टूबर 2001) में प्रो० जीवन्धर कुमार (भद्रावती) ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा 1839 ई० में जारी किये गये एक सिक्के का विवरण दिया है, जिस पर भगवान् महावीर की प्रतिकृति अंकित है। तांबे के इस गोल सिक्के का वजन 12 ग्राम, व्यास 2 सेमी०, और मोटाई 1 मिमी० बताई है।

सिक्के सामने की ओर आकर्षक डिजाइन से आवृत्त, सुन्दर भामण्डल-सहित दिगम्बर ध्यानस्थ-मुद्रा में पद्म पर आसीन 24वें जैन तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर की प्रतिकृति उत्कीर्ण है, और उसके पार्श्व में देवनागरी लिपि में 'श्री भगवान् महावीर' उत्कीर्ण है।

पृष्ठ-भाग पर मध्य में कलात्मक-ढंग से 'ऊँ' और ऊर्ध्वभाग में तारे सहित अर्द्ध-चन्द्र, सूर्य और त्रिशूल की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं, तथा रोमन-लिपि में Half Anna व East India Company और 1839 उत्कीर्ण हैं। —(साभार-शोधादर्श, नवम्बर 2001) * * *

डॉ० एस०पी० पाटील 'चामुंडराय पुरस्कार' द्वारा सम्मानित

कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड के कन्नड़ तथा जैनशास्त्र विषय के सेवानिवृत्त प्राध्यापक डॉ० एस०पी० पाटील को उनके शोध-प्रबंध 'चामुंडराय पुराण एक अध्ययन' के लिए 'कन्नड़ साहित्य परिषद्' बैंगलोर की ओर से प्रस्तुत वर्ष 2001-2002 का 'चामुंडराय पुरस्कार' घोषित किया गया। डॉ० एस०पी० पाटील ने लगभग 40 ग्रंथों की रचना की है।

'स्याद्वाद केसरी', 'तीर्थवंदना' आदि स्मरणिकाओं का संपादन भी आपने किया है। विद्यापीठ तथा राष्ट्रीय स्तर पर विविध परिचर्चाओं तथा प्रबंधवाचन में सहभाग के साथ-साथ अध्यक्षपद भी आपने विभूषित किया है। जैन साहित्य तथा संस्कृति की सेवा के लिए आपको इसके पूर्व 'साहित्य परिषद पुरस्कार', 'देवेंद्रकीर्ति पुरस्कार', 'गोमटेश्वर पुरस्कार', 'आचार्य श्री बाहुबली मुनि कन्नड़ साहित्य पुरस्कार', 'कन्नड़-मराठी बंधुभाव क्षेत्र की सेवा के लिए मुंबई के कर्नाटक-संघ का 'वरदराज आद्य पुरस्कार' आदि पुरस्कारों के द्वारा वे सम्मानित हैं। आप बाहुबली से प्रकाशित 'सन्मति' मुखपत्र के मानद सम्पादक भी रह चुके हैं। 'अनेकान्त शोधपीठ', 'श्रुतिकेवल एज्युकेशन ट्रस्ट', 'कुंदकुंद भारती', 'साहित्य अकादमी', 'कन्नड़ साहित्य परिषद' आदि संस्थाओं से आपका निकट संबंध रहा है। श्रवणबेलगोल के 'राष्ट्रीय प्राकृत अध्यापन तथा संशोधन संस्था के मानद-संचालक के रूप में एक वर्ष तथा राष्ट्रीय स्तर पर 'जैन विद्वत्परिषद्' के कार्यकारी समिति के सभासद के रूप में आपने सेवा की है।

पुरस्कार में 20 हजार रुपये तथा प्रशस्ति-पत्र दिया गया है। —सम्पादक * * *

प्राकृतविद्या के स्वत्वाधिकारी एवं प्रकाशक श्री सुरेशचन्द्र जैन, मंत्री, श्री कुन्दकुन्द भारती, 18-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-110067 द्वारा प्रकाशित; एवं मुद्रक श्री महेन्द्र कुमार जैन द्वारा, मै० धूमिमल विशालचंद के मार्फत 'प्रीम प्रिंटिंग वर्क्स' चूड़ीवालान, चावड़ी बाजार, दिल्ली-110006 में मुद्रित। भारत सरकार पंजीयन संख्या 48869/89

इस अंक के लेखक-लेखिकाएँ

1. आचार्यश्री विद्यानन्द मुनिराज—भारत की यशस्वी श्रमण-परम्परा के उत्कृष्ट उत्तराधिकारी एवं अभीक्षण ज्ञानोपयोगी संत परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराजं वर्तमान मुनिसंघों में वरिष्ठतम हैं।

इस अंक में प्रकाशित 'पिच्छि और कमण्डलु' एवं 'उत्तम संयम और महाव्रत' शीर्षक आलेख आपके द्वारा विरचित हैं।

2. (स्व०) डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन—आप जैन-इतिहास, संस्कृति एवं दर्शन आदि के वरिष्ठ अध्येता-मनीषी थे। आपके द्वारा लिखित-साहित्य आज भी 'मील के पत्थर' की भाँति प्रामाणिक माना जाता है।

इस अंक में प्रकाशित 'भारतवर्ष का एक प्राचीन जैन-विश्वविद्यालय' शीर्षक आलेख आपकी लेखनी से प्रसूत है।

3. (स्व०) पं० बलभद्र जैन—आप जैनदर्शन, इतिहास एवं संस्कृति के अच्छे अध्येता मनीषी रहे। कुंदकुंद भारती के प्रकाशनों से भी आपका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।

इस अंक में प्रकाशित 'भगवान् महावीर' आलेख आपकी लेखनी से प्रसूत है।

4. डॉ० सूर्यकान्त बाली—आप भारतीय इतिहास के अच्चे अध्येता-मनीषी एवं सिद्धहस्त लेखक रहे हैं। आपके द्वारा अनेकों महत्त्वपूर्ण कृतियों का सृजन हुआ है।

इस अंक में प्रकाशित 'दार्शनिक-राजा की परम्परा के प्रवर्तक तीर्थंकर ऋषभदेव' शीर्षक आलेख आपकी लेखनी से सृजित है।

5. पं० प्रकाश हितैषी शास्त्री—आप जैनदर्शन, तत्त्वज्ञान के अधिकारी विद्वान् होने के साथ-साथ एक सुप्रतिष्ठित सम्पादक, प्रवचनकार एवं सिद्धहस्त लेखक भी हैं। 'सन्मति सन्देश' जैसी प्रतिष्ठित जैन मासिक-पत्रिका के आप कई दशकों से सम्पादक हैं। 'सन्मति-सन्देश' जैसी प्रतिष्ठित जैन मासिक-पत्रिका के आप कई दशकों से सम्पादक हैं।

इस अंक में प्रकाशित 'श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वदपरिषद के 19वें अधिवेशन में प्रदत्त अध्यक्षीय भाषण', आपके द्वारा रचित है।

स्थायी पता—535, जैनमंदिर गली, गाँधीनगर, दिल्ली-110031

6. डॉ० राजाराम जैन—आप मगध विश्वविद्यालय में प्राकृत, अपभ्रंश के 'प्रोफेसर' पद से सेवानिवृत्त होकर श्री कुन्दकुन्द भारती जैन शोध संस्थान के 'निदेशक' हैं। अनेकों महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों, पाठ्यपुस्तकों एवं शोध आलेखों के यशस्वी लेखक भी हैं।

इस अंक के अन्तर्गत प्रकाशित 'मनीषीप्रवर टोडरमल : प्रमुख शौरसेनी जैनागमों के प्रथम

हिन्दी टीकाकार' नामक आलेख के लेखक आप हैं।

पत्राचार-पता—महाजन टोली नं० 2, आरा-802301 (बिहार)

7. विद्यावारिधि डॉ० महेन्द्र सागर प्रचंडिया—आप जैनविद्या के क्षेत्र में सुपरिचित हस्ताक्षर हैं, तथा नियमित रूप से लेखनकार्य करते रहते हैं। इस अंक में प्रकाशित 'आध्यात्मिक गीत' नामक कविता के रचयिता आप हैं।

स्थायी पता—मंगल कलश, 394, सर्वोदय नगर, आगरा रोड़, अलीगढ़-202001 (उ०प्र०)

8. राजमल जैन—आप जैन इतिहास एवं संस्कृति के गवेषी विद्वान् हैं। लोकैषणा से दूर रहकर इस वार्धक्य में भी स्वाध्याय एवं लेखन की वृत्ति अक्षुण्ण बनाये रखकर आप निस्पृह भाव से अद्वितीय समाजसेवा कर रहे हैं।

इस अंक में प्रकाशित 'केरली-संस्कृति में जैन-योगदान' आलेख आपके द्वारा रचित है।

स्थायी पता—B-1/324, जनकपुरी, नई दिल्ली-110058

9. डॉ० राजेन्द्र कुमार बंसल—आप ओरियंटल पेपर मिल्स, अमलाई में कार्मिक अधिकारी के पद से सेवानिवृत्त हुये, जैनसमाज के अच्छे स्वाध्यायी विद्वान् हैं। इस अंक में प्रकाशित 'प्राकृत-ग्रन्थों में जिनलिंगों का स्वरूप' शीर्षक आलेख आपकी लेखनी से प्रसूत है।

पत्राचार-पता—बी०-369, ओ०पी०एम० कालोनी, अमलाई-484117 (उ०प्र०)

10. डॉ० हुकमचन्द जैन—आप मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज०) में 'जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग' में रीडर पद पर कार्यरत हैं।

इस अंक में प्रकाशित आलेख 'रयणचूडरायचरिय' में वर्णित नगर', आपके द्वारा रचित है।

पत्राचार पता—जैनविद्या एवं प्राकृतविभाग, सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज०)

11. डॉ० सुदीप जैन—श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली में 'प्राकृतभाषा विभाग' में उपाचार्य एवं विभागाध्यक्ष हैं। तथा प्राकृतभाषा पाठ्यक्रम के संयोजक भी हैं। अनेकों पुस्तकों के लेखक, सम्पादक। प्रस्तुत पत्रिका के 'मानद सम्पादक'। इस अंक में प्रकाशित 'सम्पादकीय', शीर्षक आलेख एवं पुस्तक-समीक्षाएँ आपके द्वारा लिखित हैं।

स्थायी पता—बी-32, छत्तरपुर एक्सटेंशन, नंदा फार्म के पीछे, नई दिल्ली-30 ❖❖

सिंहावलोकन-न्याय

आचार्य धरसेन गिरिनार पर्वत पर पुष्पदन्त-भूतबलि मुनिराज को उपदेश देते हैं:—“सिंहावलोगणणाएण ।”—(आचार्य वीरसेन, छस्खंडागम, पुस्तक 13, पृ० 317)

अर्थात् जिसप्रकार सिंह मृग का शिकार कर देता है और आगे जाने लगता है तो उस समय वह पीछे भी देखता जाता है कि कोई मृग पीछे और भी हो तो उसे भी पकड़ा जाये। वह अपने आगे भी देखता जाता है और दृष्टिपथ में आये मृगों को मारता भी है। इसीप्रकार जब एक ही सूत्र की प्रवृत्ति आगे और पीछे दोनों ओर हो तो उसे 'सिंहावलोगण' कहा जाता है।

'आदिरंत्येन सहेता' के अनुसार भी 'हलन्त्यम्'—सूत्र में सिंहावलोकन-न्याय है।



‘सर्वास्वेह हि शुद्धासु जातिषु द्विजसत्तमाः ।

शौरसेनी समाश्रित्य भाषा काव्येषु योजयेत् ।।’ —(नाट्यशास्त्र)

अर्थ:—हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! सभी शुद्ध जातिवाले लोगों के लिए शौरसेनी प्राकृतभाषा का आश्रय लेकर ही काव्यों में भाषा का प्रयोग करना चाहिये ।

शौरसेनी प्राकृत

“शौरसेनी प्राकृतभाषा का क्षेत्र कृष्ण-सम्प्रदाय का क्षेत्र रहा है। इसी प्राकृतभाषा में प्राचीन आभीरों के गीतों की मधुर अभिव्यंजना हुई, जिनमें सर्वत्र कृष्ण कथापुरुष रहे हैं और यह परम्परा ब्रजभाषा-काव्यकाल तक अक्षुण्णरूप से प्रवाहित होती आ रही है।”

—डॉ० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित

(भरत और भारतीय नाट्यकला, पृष्ठ 75)

“भक्तिकालीन हिंदी काव्य की प्रमुख भाषा ‘ब्रजभाषा’ है। इसके अनेक कारण हैं। परम्परा से यहाँ की बोली शौरसेनी ‘मध्यदेश’ की काव्य-भाषा रही है। ब्रजभाषा आधुनिक आर्यभाषाकाल में उसी शौरसेनी का रूप थी। इसमें सूरदास जैसे महान् लोकप्रिय कवि ने रचना की और वह कृष्ण-भक्ति के केन्द्र ‘ब्रज’ की बोली थी, जिससे यह कृष्ण-भक्ति की भाषा बन गई।” —विश्वनाथ त्रिपाठी

(हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० 18)

“मथुरा जैन आचार्यों की प्रवृत्तियों का प्रमुख केन्द्र रहा है, अतएव उनकी रचनाओं में शौरसेनी-प्रमुखता आना स्वाभाविक है। श्वेतांबरीय आगमग्रन्थों की अर्धमागधी और दिगम्बरीय आगमग्रन्थों की शौरसेनी में यही बड़ा अन्तर कहा जा सकता है कि ‘अर्धमागधी’ में रचित आगमों में एकरूपता नहीं देखी जाती, जबकी ‘शौरसेनी’ में रचितभाषा की एकरूपता समग्रभाव से दृष्टिगोचर होती है।” —डॉ०जगदीशचंद्र जैन

(प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० 30-31)

“प्राकृत बोलियों में बोलचाल की भाषायें व्यवहार में लाई जाती हैं, उनमें सबसे प्रथम स्थान शौरसेनी का है। जैसा कि उसका नाम स्वयं बताता है, इस प्राकृत के मूल में शूरसेन के मूल में बोली जानेवाली भाषा है। इस शूरसेन की राजधानी मथुरा थी। —आर. पिशाल (कम्पेरिटिव ग्रामर ऑफ प्राकृत लैंग्वेज, प्रवेश 30-31)

प्राकृतभाषा के प्रयोक्ता

“मथुरा के आस-पास का प्रदेश ‘शूरसेन’ नाम से प्रसिद्ध था और उस देश की भाषा ‘शौरसेनी’ कहलाती थी। उक्त उल्लेख से इस भाषा की प्राचीनता अरिष्टनेमि से भी पूर्ववर्ती काल तक पहुँचती है।”

—(मधवा शताब्दी महोत्सव व्यवस्था समिति, सरदारशहर (राज०) द्वारा प्रकाशित ‘संस्कृत प्राकृत व्याकरण एवं कोश की परम्परा’ नामक पुस्तक से साभार उद्धृत)

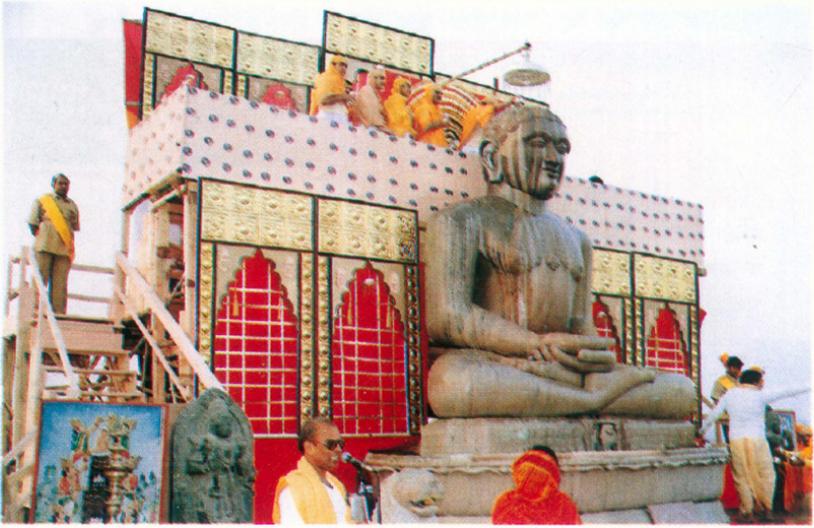
‘अहिंसा-स्थल महामस्तकाभिषेक समारोह’ की भव्य झलकियाँ



महामस्तकाभिषेक समारोह के सुअवसर पर मंच पर विराजमान परमेष्ठित्रयी पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज, उपाध्याय श्री श्रुतसागर जी, मुनिश्री निर्णयसागर जी एवं मुनिश्री ऊर्जयन्त सागर जी



महामस्तकाभिषेक समारोह से पूर्व आयोजित विधान



मंत्रोच्चार-विधिपूर्वक होता हुआ महामस्तकाभिषेक



महामस्तकाभिषेक के लिये मंत्रपूत जलभरित मंगल-कलश

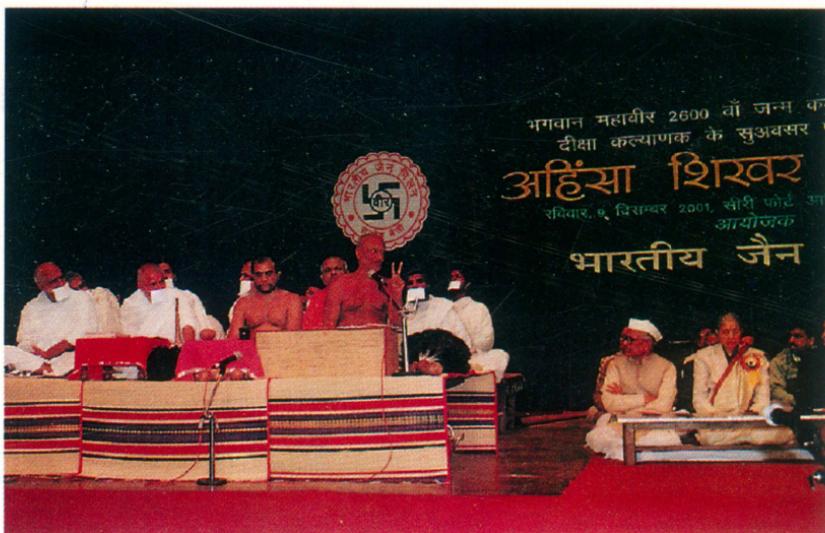
‘अहिंसा शिखर सम्मेलन’ की भव्य झलकियाँ



मंच पर पदार्पण करते हुये पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज



संतों के श्रीचरणों में श्रीफल समर्पित करती हुयीं श्रीमती इन्दु जैन



मंगल उद्बोधन देते हुये पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज



समारोह में समागत धर्मानुरागी भाई-बहिन

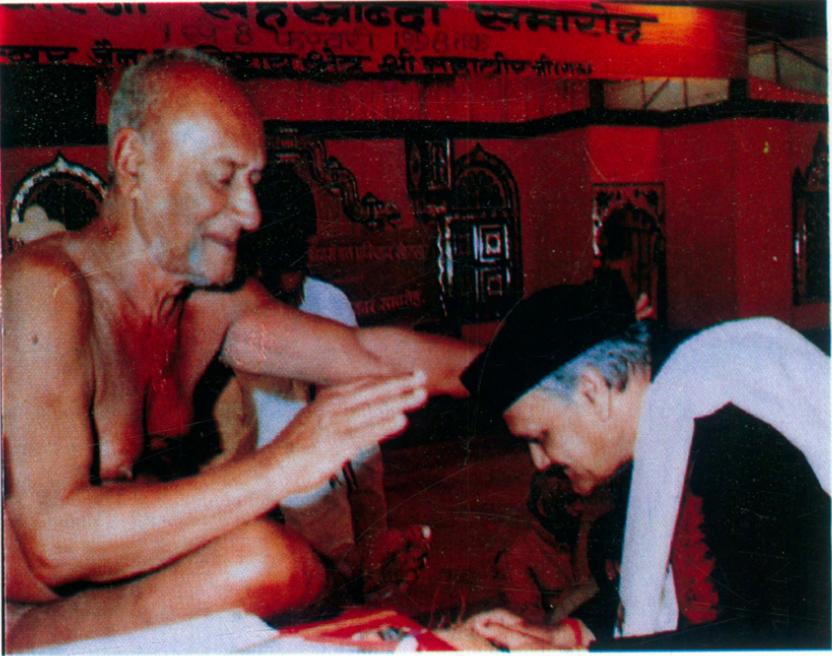
‘अहिंसा-इंटरनेशनल पुरस्कार-वितरण समारोह’ की कुछ झलकियाँ



अहिंसा-इंटरनेशनल सर्वश्रेष्ठ पत्रकारिता का पुरस्कार ग्रहण करते हुये डॉ० सुदीप जैन



पुरस्कार प्राप्ति के बाद अपने उद्गार व्यक्त करते हुये डॉ० सुदीप जैन



श्रीमहावीरजी के सहस्राब्दी-मस्तकाभिषेक समारोह में पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द मुनिराज से आशीर्वाद ग्रहण करते हुये डॉ० मण्डन मिश्र ।

स्वनामधन्य मनीषीप्रवर डॉ० मण्डन मिश्र जी दिवंगत

ऊपर मुद्रित चित्र श्रीमहावीरजी क्षेत्र पर आयोजित सहस्राब्दी-मस्तकाभिषेक समारोह के सुअवसर का है। इस समारोह में अपनी सहभागिता-हेतु तथा पूज्य आचार्यश्री के दर्शनार्थ डॉ० मण्डन मिश्र जी वहाँ पधारे थे, तथा महामस्तकाभिषेक-समिति ने उनका सम्मान किया था; उसी अवसर पर पूज्य आचार्यश्री से आशीर्वाद लेने की स्थिति में छायाकार ने उनका यह चित्र लिया था। यह चित्र डॉ० मण्डन मिश्र जी को इतना प्रिय लगा कि उन्होंने उसी दिन से अपने कक्ष में प्रमुख स्थान पर इस चित्र को बड़ा कराके लेमिनेशनपूर्वक लगवाया, और वे सदा कहते थे कि “मैं तो सदैव आचार्यश्री की छत्र-छाया में ही रहता हूँ।”

भारतीय संस्कृति के गौरव-पुरुष के रूप में विशेष-रूप से उल्लेखनीय डॉ० मण्डन मिश्र जी वैदिक-संस्कृति के विशेषज्ञ विद्वान् होते हुये भी श्रमण-संस्कृति में उनकी अनन्य आस्था थी। वे प्रतिवर्ष श्रीमहावीरजी क्षेत्र पर दर्शनार्थ जाते थे, तथा वहाँ भगवान् महावीर के दर्शन के साथ-साथ वे विदुषी समाज-सेविका ब्र० कमलाबाई जी से भी अवश्य मिलते थे; और उनके प्रति अपने कृतज्ञता के भाव अर्पित करते थे। परमपूज्य आचार्यश्री को तो वे अपने जीवन का सर्वस्व मानते थे। वे कहते थे कि “पूज्य आचार्यश्री से जितना अपार वात्सल्य मैंने प्राप्त

किया, उतना कृपापात्र मैं किसी का भी नहीं बन सका। और उनकी यह कृपा अहेतुकी थी।”

प्राकृतभाषा और साहित्य के समुन्नयन के लिये भी वे कृतसंकल्प थे, तथा संस्कृत-भाषा को स्वातंत्र्यउत्तरोत्तर भारत में झोपड़ी से राष्ट्रपति भवन तक पहुँचाने के बाद वे प्राकृतभाषा के लिये समर्पित थे। जिस समय विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की NET परीक्षा से प्राकृतभाषा को हटाया गया, तो उन्होंने अपनी दूरदर्शितापूर्ण नीति से अविलम्ब उसे पूर्ण स्वतंत्र के विषय के रूप में पुनः स्थापित करवाया। उन्हीं की प्रेरणा से श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ (मानित विश्वविद्यालय), नई दिल्ली के यशस्वी कुलपति प्रो० वाचस्पति उपाध्याय जी ने इस विद्यापीठ में स्वतंत्र प्राकृत विभाग की स्थापना की।

कुन्दकुन्द भारती न्यास की समस्त शैक्षणिक एवं शोधपरक गतिविधियों के वे प्रमुख मार्गदर्शक थे। यह संस्था उन्हीं के मार्गदर्शन में प्रगतिपथ पर अग्रसर थी।

ऐसे यशस्वी संरक्षक एवं अद्वितीय मनीषी भाषाविद् का असामयिक वियोग सम्पूर्ण संस्कृत-प्राकृत-जगत् की अपूरणीय क्षति तो है ही, विश्व के सांस्कृतिक एवं शैक्षिक क्षेत्र में भी एक बहुत बड़ा शून्य उनके न होने से उत्पन्न हुआ है। **

सर्वजनप्रिय श्री रमेशचन्द्र जैन (पी.एस.जे.) अब हमारे बीच नहीं रहे

हरियाणा प्रान्त के रोहतक नगर में श्रीमान् लाला प्रताप सिंह एवं माता श्रीमती इलायची देवी की कोख से 9 सितम्बर 1939 को एक बालक का जन्म हुआ। होनहार, सेवाभावी, कुलदीपक, कीर्ति पालक बालक को नाम मिला श्री रमेशचन्द्र जैन। मानवसेवा एवं मर्यादानुपालक ये दो सूत्र आपको पारिवारिक विरासत में मिले।



श्री रमेशचन्द्र शिक्षा की सीढ़िया पार करने के बाद व्यवसायोन्मुखी हुए। संकल्प निष्ठा परिश्रम मिलनसारिता के बल पर आपने कारोबार की चहुँमुखी प्रगति की। भाग्य, पुरुषार्थ और कुल-पुण्यार्थ का सम्बल पाकर आप कम समय में ही प्रमुख व्यवसायों में गिने जाने लगे। व्यवसाय के लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए आपका ध्यान धर्म और समाज की ओर गया। मन की पवित्रता वाणी के माधुर्य एवं व्यवहार की कुशलता के कारण आपने जिस संस्था की भी बागडोर संभाली, उसे आकाश की ऊँचाईयों तक पहुँचा दिया।

‘कुन्दकुन्द भारती’ जैसी प्रतिष्ठित संस्था के आप संस्थापक-मंत्री एवं आजीवन-ट्रस्टी रहे। असाधारण कर्मठता और समन्वयत्कम भावना शक्ति से ‘भारत जैन महामंडल’ को प्राणवन्त बनाने में आपकी विशेष भूमिका रही। ‘भगवान् महावीर के 2500वें परिनिर्वाण-महोत्सव’ की सफलता एवं ‘भगवान् बाहुबलि सहस्राब्दी-महोत्सव’ एवं महामस्तिकाभिषेक में आपकी सेवाओं एवं सहयोग को समाज शताब्दियों तक स्मरण करेगा।

आप पी.एस.जे. फाउण्डेशन के अध्यक्ष थे। आप अनेक जैन और जैनेतर संस्थाओं से जीवन भर जुड़े रहे। दिगम्बर जैन महासमिति, दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, भगवान्

महावीर मैमोरियल, महावीर वनस्थली, जैन अनाथरक्षक सोसायटी, जैन महासभा, त्रिलोक शोध संस्थान, एस.डी.ओ.एम.आई. मैनेजिंग कमेटी श्रवणबेलगोला, गुरु नानक फाउण्डेशन, सनातन धर्म सभा, पंजाबी सोसायटी आदि आदि। वर्तमान में आप रानीला तीर्थक्षेत्र के अध्यक्ष थे।

प्रख्यात समाजसेवी बाबू सुकुमाल चन्द जी नहीं रहे

ऐतिहासिक नगरी हस्तिनापुर नामक पावन तीर्थ के प्राचीन जिनमंदिर के संरक्षण और संवर्द्धन के लिये समर्पित देशभर की अनेकों सामाजिक संस्थाओं के विभिन्न पदों को सुशोभित करनेवाले धर्मप्राण बाबू सुकुमाल चन्द जी मेरठवालों का दिनांक 17 नवम्बर 2001 को धर्मदानपूर्वक देह-वियोग हो गया। परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज के प्रति अनन्य आस्था रखनेवाले बाबू सुकुमाल चन्द जी हस्तिनापुर की दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्री कमेटी के कई दशकों से प्रधानमंत्री रहे, और आपके नेतृत्व में इस क्षेत्र ने उल्लेखनीय प्रगति की। इसके साथ ही अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, दिगम्बर जैन महासमिति, दिगम्बर जैन परिषद्, भगवान् महावीर 2500वां निर्वाणोत्सव-समिति आदि अनेकों सुप्रतिष्ठित संस्थाओं के प्रमुख पदों को आपने विभूषित किया, और इन सभी संस्थाओं ने आपके सुयोग्य नेतृत्व और मार्गदर्शन में अनेकों महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित किये।

श्री उम्मेदमल जैन पाण्ड्या अब हमारे बीच नहीं रहे

अखिल भारतवर्षीय संस्थाओं के प्रति सक्रियरूप से आजीवन समर्पित, मृदुभाषी, उदारमना, दानशील, देवशास्त्र-गुरु के अनन्य भक्त, श्री दिगम्बर जैन आदर्श महिला महाविद्यालय श्रीमहावीरजी एवं तीर्थक्षेत्रों के चतुर्दिक विकास में समर्पित अनेक संस्थाओं के न्यासी, शाश्वत तीर्थराज श्री सम्मेदशिखर जी आन्दोलन के अग्रणी व्यक्तित्व, श्रवणबेलगोला यात्रा संघ व महामस्तकाभिषेक, सहस्राब्दी समारोह श्रीमहावीरजी, कुण्डलपुर महामस्तकाभिषेक में तन, मन, धन से सक्रिय वरिष्ठ सहयोगी श्री उम्मेदमल जी पाण्ड्या का दिनांक 18.11.2001 को देहावसान हो गया है।

प्रसिद्ध समाजसेवी श्री सतीश कुमार जैन को पितृशोक

राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर के ख्याति प्राप्त समाजसेवी एवं साहित्यकार, अहिंसा इंटरनेशनल के संस्थापक एवं महासचिव श्री सतीश कुमार जैन के पिताश्री श्रीचन्द जैन का दिनांक 26.11.2001 को नई दिल्ली में 101 वर्ष की आयु में स्वर्गवास हो गया। आप अपने पीछे समृद्ध भरा-पूरा परिवार छोड़ गए हैं।

—सम्पादक

इन भव्यात्माओं के बताये हुये मार्ग पर निष्ठापूर्वक चलने के साथ 'प्राकृतविद्या-परिवार' एवं कुन्दकुन्द भारती न्यास के समस्त न्यासियों एवं कार्यकर्ताओं की ओर से दिवंगत आत्माओं को सुगतिगमन, बोधिलाभ एवं शीघ्र निःश्रेयस्-प्राप्ति की मंगलकामना के साथ अपने विनम्र श्रद्धासुमन समर्पित हैं।

—सम्पादक

राजधानी नई दिल्ली के आध्यात्मिक नन्दनवन में स्थित
ज्ञानतीर्थ - कुन्दकुन्द भारती



दिगम्बर जैन आगम-ग्रन्थों की माध्यम-भाषा 'शौरसेनी प्राकृत', जिसे वृहत्तर भारत के सर्वाधिक व्यापक क्षेत्र में बोली जानेवाली भाषा का स्वरूप प्राप्त था, के प्रचार-प्रसार के लिए कृतसंकल्प उच्चस्तरीय शैक्षिक एवं शोध के संस्थान का नाम है 'कुन्दकुन्द भारती'।

शौरसेनी प्राकृत को वैयाकरणों ने अन्य प्राकृतों की प्रकृति कहा है—“प्रकृतिः शौरसेनी” —(आचार्य वररुचि, प्राकृतप्रकाश) तथा आचार्य रविषेण ने जिसे भाषात्रयी में सादर स्मृत किया है—

“नामाख्यातोपसर्गेषु निपातेषु च संस्कृता ।
प्राकृती शौरसेनी च भाषायत्र त्रयी स्मृता ॥”

—(पद्मपुराण, 24/11)

ऐसी महती भारतीय भाषा के प्रमुख ज्ञान-केन्द्र 'कुन्दकुन्द भारती' के लिए

निरन्तर उन्नति एवं प्रगति-हेतु

हार्दिक शुभकामनाओं के साथ

‘जैनबोधक’

(जैनसमाज का प्राचीनतम प्रतिनिधि पत्र)

HELPFUL TO NEEDFUL

अर्थात् 'जरूरतमंदों के लिए मददगार' के आदर्शवाक्य के साथ विगत 59 वर्षों से देशभर में सेवारत यशस्वी वाणिज्यिक प्रतिष्ठान

दि रत्नाकर बैंक लि.

की आधुनिकतम सुविधा सम्पन्न ब्रांच का

राजधानी दिल्ली

के

प्रमुख व्यावसायिक केन्द्र-स्थल

'करोलबाग' में

दिनांक 10 सितम्बर 2001 को 71वीं शाखा का शुभारम्भ हुआ।

पता : 17-ए/53, डब्ल्यू०ई०ए०, गुरुद्वारा रोड
(जस्साराम हस्पताल के सामने), करोलबाग,
नई दिल्ली-110005

विशेष :- नवम्बर के प्रथम सप्ताह से A.T.M. की सुविधा भी प्रारम्भ होगी

सम्पर्क माध्यम :-

फोन : 91-11-573 0452

टेलीफैक्स : 91-11-573 0451

टेलीबैंकिंग : 91-11-573 0453